विश्वविख्यात महिलाएं

आशारानी वोहरा

1975

मूल्य : बारह रुपये (12.00)

पहला संस्करण 1975 © आशारानी व्होरा
VISHWAVIKHYAT MAHILAEN (Biographies), by Asha Rani Vohra

विश्वविख्यात महिलाएं

आशारानी व्होरा
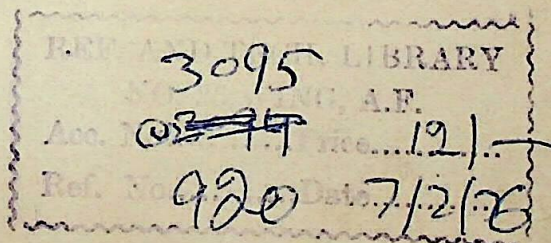
राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

दो शब्द

तीन-चार वर्ष के निरन्तर श्रम का परिणाम है यह पुस्तक। ढेर-सा अध्ययन, सामग्री-संधान, चुनाव, लेखन, कई बार नामों की अदला-बदली और फिर-फिर लेखन। कभी-कभी तो एक-एक संदर्भ व चित्र जुटाने के लिए खोज और पत्र-व्यवहार में महीनों लग गए—तब कहीं जाकर यह अंतिम रूप सामने आ पाया है। इससे संतुष्ट हूं, ऐसा नहीं कह सकती, फिर भी श्री प्रभाकर माचवे की राय 'पूर्णता की आशा करना असंभाव्य की कल्पना करने जैसा है' को महत्त्व देकर संतोष करना पड़ा।

'विश्वविख्यात महिलाएं' शीर्षक इतना व्यापक है कि नामों का चुनाव कोई आसान बात न थी। बीसवीं सदी से पूर्व के कुछ महत्त्वपूर्ण नाम छोड़े नहीं जा सकते थे। पर एक छोर पर सेंट सिसलिया जैसे आध्यात्मिक नाम और दूसरे छोर पर क्लिओपैट्रा जैसे बहुचर्चित नाम छोड़कर मैंने इज़ाबेला, मेरिया तेरेसा, जोन आफ आर्क और फ्लारेंस नाइटिंगेल जैसे नाम ही क्यों चुने? इसका उत्तर दो शब्दों में देना कठिन है। पाठक-पाठिकाएं स्वयं ही मेरे इस चुनाव पर अपना मत व्यक्त करें तो ठीक होगा।

बीसवीं सदी के नामों में से अधिकांश सुपरिचित हैं। आज तक की सभी नोबल पुरस्कार-विजेता नारियों में से पर्ल बक (साहित्य) और मेरी क्यूरी (विज्ञान), ये दो नाम ही उठाए गए हैं तो इसका कारण केवल उपलब्धि नहीं, उनकी लोकप्रियता भी है। शेष नामों पर निगाह डालने से ज्ञात होगा कि प्राय: सभी अपने-अपने क्षेत्र के अग्रणी नाम हैं, जैसे संसार को 'बर्थ-कण्ट्रोल' का नया विचार देने वाली मार्गरेट सेंगर, महिला मताधिकार के लिए सर्वप्रथम लड़ने वाली इमिलाइन पैंकहर्स्ट, नवीन बालशिक्षण पद्धति की प्रणेता मेरिया मांटेसरी और

'वर्ल्ड चीफ गाइड' वेडन पावेल। प्रथम महिला प्रधानमंत्री सिरिमावो वंडारनायके और प्रथम महिला अंतरिक्ष-यात्री वेलेन्तिना तेरेश्कोवा। शार्ले ब्रोंटी, एमिली ब्रोंटी, हेरिएट स्टों, अगांथा क्रिस्टी, इनिड ब्लाइटन, सिमोन द बुवा जैसी बहुपठित, सुविख्यात लेखिकाएं और एलीनोर रुज़वेल्ट तथा खालिदा अदीव खानम जैसी विदुषियां। कुछ अन्य नाम हैं : वीर शहीद बाला जोया कास्मोदेमिस्क्या, महान समाजसेवी मदर नगांटा, सुविख्यात मानव शास्त्री मार्गरेट मीड, लोकप्रिय नीग्रो गायिका मेरियन, नेत्रहीनों की ज्योति हेलन केलर और एक स्वंय-निर्मित महानता गोल्डा मेयर।

भारतीय नामों की तारीफ में कुछ कहना निरर्थक है। शायद ही कोई पाठक इनसे अपरिचित हो। रही प्रतिनिधित्व और नजरिये की वात, तो स्पष्ट कर दूं एक भारतीय के नाते मेरे लिए यह मोह स्वाभाविक ही था कि विश्व-प्रसिद्ध भारतीय नारियों को इस सूची में अपेक्षाकृत अधिक प्रतिनिधित्व दिया जाए। और नज़रिया तो अपना ही होता है। वह कैसा है ? यह देखना पाठक का काम है।

आभार प्रदर्शन पर आकर समझ नहीं पा रही हूं कि पुस्तक में अपेक्षित सहायता पाने के एवज में किस-किसको धन्यवाद दूं ? 'नोवल फांउडेशन' से लेकर सभी संबंधित दूतावास, अनेक पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों-जीवनियों-आत्मकथाओं के लेखक-लेखिकाएं, सहयोगी बन्धु सभी तो इसमें सम्मिलित हैं।

जीवन की सार्थकता की तलाश में, प्रेरणा की प्यास में और कुछ नया, कुछ अधिक जानने की ललक में पुस्तक व्यापक रूप से पढ़ी जाएगी, इस विश्वास के साथ आपके हाथों में·········

—आशारानी व्होरा

क्रम

स्वप्नमयी सेनानी

जोन आफ आर्क

पन्द्रहवीं सदी का आरम्भिक काल। फ्रांस पर विदेशियों के आक्रमण से हालत दिनों-दिन बिगड़ती जा रही थी। फ्रांसीसी सदियों से गुलाम न थे। गुलामी की उन्हें आदत नहीं थी इसलिए देश की स्वतन्त्रता का अपहरण होते देखना उन्हें सह्य न था। फिर भी तत्कालीन राजा की कमजोरी और परिस्थिति के फेर में पड़कर जनता निराश हो गई थी। उद्धत अंग्रेज़ सिपाही जहां-तहां उत्पात मचाने लगे थे और लोग भयभीत हो जंगलों में छिपने लगे थे। फ्रांस का अधिपति चार्ल्स भी देश के अज्ञात स्थानों में छिपता हुआ इधर-उधर भटक रहा था। थककर देश ने विदेशियों के सामने सिर झुका दिया और फ्रांस के उत्तर-पश्चिम से लेकर बोर्दो तक और पेरिस नगर पर अंग्रेज़ों का कब्ज़ा हो गया।

इसी पराधीनताजन्य निराशा के समय बालिका जोन का जन्म लारेन प्रान्त के डुमरिम गांव में हुआ। पिता जोवेयस आर्क एक साधारण कृषक थे। मां इज़ा-

बेला बड़ी धर्मपरायण नारी थी। तीन भाई और दो बहनों में जोन सबसे छोटी थी। मां की ईश्वर-भक्ति और कर्तव्यनिष्ठा का प्रभाव जोन पर सबसे अधिक पड़ा। बचपन से ही वह दैवी गुणों से सम्पन्न थी और अचानक सन्तों की तरह ऐसी बातें कर देती कि सब चकित हो जाते। इसपर माता से बाइबिल के उपदेश और महान पुरुषों की कहानियां सुन-सुनकर वह महान बनने के सपने देखने लगी।

जोन पिता के साथ खेती में हाथ बंटाती, माता के साथ घर के काम में। भाई-बहनों का काम करने को तत्पर रहती और शेष समय ईश्वरोपासना में व्यतीत करती। आदर्श और त्याग की कहानियां सुन घण्टों उनपर सोचती रहती। इस तरह सपने देखने की उसकी आदत बन गई। वह स्वभाव से दयामयी, स्वप्न-मयी और कोमलहृदया थी ही! उन्हीं दिनों उसके डुमरिम गांव पर उद्धत अंग्रेज़ सैनिकों ने आक्रमण कर दिया। गांव के घर और गिरजाघर जल गए। सीधे-सादे ग्रामीणों ने भागकर जंगल में शरण ली। विदेशियों के इस अत्याचार से कोमलहृदय जोन व्याकुल हो उठी। ईश्वरभक्त और सेवा-परायण जोन ने घूम-घूमकर गांववासियों की हर सम्भव सहायता की। वह पढ़ी-लिखी न थी क्योंकि गांव में कोई पाठशाला न थी। पर गांव वाले उस नन्ही-सी लड़की का ज्ञान देखकर दंग रह जाते थे।

जोन तेरह-चौदह वर्ष की हुई कि माता-पिता विवाह के लिए पीछे पड़ गए। उसकी सुन्दरता से प्रभावित हो अनेक युवकों की ओर से विवाह के प्रस्ताव आए पर जोन तो और ही सपने देख रही थी। उसने विवाह करने से साफ इन्कार कर दिया। एक बार एक युवक ने उसे परेशान कर, धोखे में डालकर उससे विवाह करना चाहा, पर वह सफल नहीं हुआ। युवक ने टोल के धर्मालय में उसके विरुद्ध अभियोग लगाया कि जोन उससे विवाह की प्रतिज्ञा कर अब पीछे हट रही है। पर विचारालय में उपस्थित होने पर जोन ने निर्भीकता से इस झूठे आरोप का खण्डन किया और कहा, "मैंने किसीको कोई वचन नहीं दिया, न ही मेरा विवाह करने का कोई इरादा है। मैंने तो विदेशियों के अत्याचार से देशवासियों की रक्षा करने का व्रत लिया है। विवाह न कर देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़ने का मेरा संकल्प दृढ़ है। मुझे कोई नहीं रोक सकता।" पंच उसका अडिग निश्चय सुनकर अवाक् रह गए। जोन बरी हो गई। इसके बाद तो वह अपने सपने में और भी डूब गई।

देश के उद्धार की इतनी अधिक चिन्ता उसे लग गई थी कि एकान्त में बैठ-कर घण्टों प्रार्थना में लीन रहती। स्वदेश किस तरह मुक्त हो? मैं अबला हूं,

युद्ध कैसे लड़ा जाता है, यह नहीं जानती। विदेशियों की इतनी बड़ी शक्ति का मुकाबला मैं कैसे करूं ? यह चिन्ता जोन को हर समय घेरे रहती। तभी एक ग्रीष्म संध्या को उसे अपने अन्तर्मन से आवाज़ सुनाई दी, 'जोन, भगवान पर भरोसा कर युद्ध में प्रवृत्त हो जा, तेरी जीत होगी, देश की जीत होगी।' यह सपना था या उसकी दृढ़ इच्छाशक्ति की आवाज़ ? पर जोन जसे पागल हो उठी थी।

उसने मां को अपनी बात कह सुनाई। श्रद्धालु माता ने उनपर विश्वास कर लिया। पर पिता बिगड़ उठे, "खबरदार, जो कभी ऐसी बातें कीं ! अब यदि मैं तेरे मुंह से ऐसे शब्द सुनूंगा तो याद रखना।" जोन चुप हो गई। पर भीतर ही भीतर यह चिन्ता उसे इतनी अधिक सालने लगी थी कि उसने स्वदेश-धर्म के आगे पिता की आज्ञा का उल्लंघन करना ही उचित समझा।

शीघ्र ही एक मौका भी मिल गया। चाची की बीमारी का हाल सुनकर वह अपने उदारहृदय चाचा लेक्ज़र्ट के पास चली गई और चाची की सुश्रूषा करते-करते चाचा से अपने मन की बात कह सुनाई। चाचा उसकी बुद्धि और संकल्प से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने जोन को हर सम्भव सहायता देने का वचन दिया। जोन की आयु इस समय कुल सोलह वर्ष की थी। उसने चाचा से अनुरोध किया कि वह स्थानीय शासक के पास उसकी बात पहुंचा दें। चाचा मान गए। पर शासक पूरी बात सुनकर भड़क उठा, "क्या बच्चों की बातों में आ गए हो ! अपनी भतीजी को समझा-बुझाकर पिता के पास वापिस भेज दो। उसका भविष्य क्यों बिगाड़ते हो !" चाचा निराश लौट आए।

पर जोन कहां मानने वाली थी ! उसने हाकिम से स्वयं मिलने की ज़िद की। मिलने पर जब शासनाधिकारी ने उससे आने का आशय पूछा तो जोन ने उत्तर दिया, "मुझे ईश्वर का आदेश प्राप्त हुआ है कि मैं देश को स्वतन्त्र कराने में राजा की सहायता करूं। राजा इस धर्मयुद्ध में पीछे न हटें। मुझे पूरा विश्वास है कि हम जीतेंगे। ईश्वर ने मुझे रीम्स नगर के राजा का राज्याभिषेक सम्पन्न कराने का आदेश दिया है।"

अधिकारी पहले चकित हुआ, फिर कुछ सोचकर उसने एक धार्मिक नेता से परामर्श किया और सारी बातें ड्यूक आफ लारेन के पास लिख भेजीं। साथ ही उसने जोन को भी उसके पास भेज दिया। ड्यूक ने प्रसन्न हो राजा डफिन से बात की। जोन को चीनन नगर में प्रजा-सभा के अधिवेशन में बुलाया गया। तब आवागमन के ऐसे साधन न थे। साढ़े चार सौ मील का सफर कर पन्द्रह दिन बाद जोन चीनन पहुंची। राजा ने वेष बदलकर कई तरह से जोन की परीक्षा ली और

उसकी बातें सुनकर मुग्ध हो गया।

जोन ने राजा को पहचानकर उससे कहा, "मैं आपको ईश्वर का सन्देश सुनाने आई हूं। ईश्वर का आदेश है कि आप रीम्स नगर की ओर बढ़कर दुश्मनों को खदेड़ दें। आपकी अवश्य जीत होगी। वहीं मैं आपका राज्याभिषेक करूंगी।" जोन का सपना सच होने जा रहा था। राजा ने उसकी बात को गम्भीरता से लेकर अपने सलाहकारों और विद्वानों से परामर्श किया। इस बीच जनता की ओर से भी राजा के पास अनेकों प्रार्थनापत्र आ चुके थे जिनमें विदेशियों को खदेड़कर उनके दुःख दूर करने की प्रार्थना की गई थी। सभा में जोन से लोगों ने अनेक प्रश्न किए। जोन ने अपनी सहज बुद्धि से उसकी सभी शंकाओं का समाधान किया। काफी सोच-विचार के बाद सभा ने भी जोन के पक्ष में अपना निर्णय राजा के पास भेज दिया।

अब कोई बाधा न थी। राजा डफ़िन ने जोन को सैनिक शिक्षा देनी शुरू कर दी। वह जोन को प्रशिक्षित कर उसीके नेतृत्व में अपनी सेना भेजना चाहता था। जोन ने भी जी-जान से परिश्रम कर रण-नीति और युद्ध-विद्या में शीघ्र कुशलता प्राप्त कर ली। सैनिक वेश में सजकर घोड़े पर सवार हो जोन जब युद्धक्षेत्र के लिए रवाना हुई तो जगह-जगह लोगों ने करुणामिश्रित हर्ष से उसका स्वागत किया। पराजित राष्ट्र में आशा की एक लहर दौड़ गई। न जाने क्यों, लोगों को यह विश्वास हो चला था कि जोन अवश्य जीतेगी। वे उसे दैवी गुणों से सम्पन्न समझकर उसपर अपार श्रद्धा रखते थे। यही जोन की वास्तविक शक्ति भी थी —जनता का विश्वास और अपना दृढ़ संकल्प।

आरलिस नगर पर अंग्रेज़ों का घेरा था। जोन ने सेना के साथ नगर में प्रवेश किया तो उन्होंने बालिका समझकर पहले बाधा न दी। उसकी शक्ति को उपेक्षा से देखा गया। जोन ने नगर-प्रवेश कर ईश्वर की प्रार्थना की, फिर एक दूत भेजकर पत्र द्वारा अंग्रेज़ों को कहला भेजा, "मैं ईश्वर के आदेश से स्वदेश-रक्षा कार्य में प्रवृत्त हुई हूं। आप लोग फ्रांस छोड़कर चले जाइए। रक्तपात ठीक न होगा।" अंग्रेज़ पत्र पाकर बौखला गए, "एक लड़की का इतना साहस!" दूत को उन्होंने बन्दी बना लिया।

जोन दुःखी हुई, निराश नहीं। दुःखी इसलिए कि अपने पवित्र कार्य के लिए उसे रक्तपात का सहारा लेना पड़ेगा, जो उसकी धार्मिक वृत्ति के अनुकूल न था। उसने एक प्रयत्न और किया। स्वयं दुर्ग के शिविर पर चढ़कर अंग्रेज़ों को अपना यह पैगाम सुनाया। कोई परिणाम न निकला तो युद्ध अनिवार्य हो गया। अंग्रेज़ों ने नई कुमुक मंगाकर अपनी शक्ति और बढ़ा ली। इधर जोन अस्त्र-शस्त्र से

सजकर सेना सहित तैयार हो गई। युद्ध शुरू हो गया। प्रारम्भ में अंग्रेज़ों की प्रबल शक्ति के आगे फ्रांसीसी उखड़ने लगे। पर जोन के शब्दों के जादू ने उन्हें फिर जमा दिया। सैनिकों को उत्साहित कर उसने स्वयं कमान संभाली और ज़बर्दस्त आक्रमण कर अंग्रेज़ों को खदेड़ने में सफल हो गई।

दूसरे दिन अंग्रेज़ों के एक-दूसरे किले पर आक्रमण किया गया। घोर युद्ध हुआ। प्रबल प्रतिरोध होने पर भी फ्रांसीसी डटे रहे। किले में घुसने की इच्छा से जोन किले की दीवार पर चढ़ी ही थी कि एक तीर आकर उसकी गर्दन में लगा और वह खाई में गिर पड़ी। अंग्रेज़ उसे पकड़ पाएं, इसके पूर्व ही घाव पर दवा लगा, ईश्वर का नाम ले वह फिर युद्धक्षेत्र में आ डटी। सेनापति डूनियस ने ज़ख्मी जोन को वहां से चले जाने की सलाह दी पर यह जोन को कैसे सहन होता! दूने उत्साह से उसने आक्रमण किया और अंग्रेज़ी सेना को खदेड़ दिया। अंग्रेज़ सेनापति लोयर नदी के पुल से भाग निकलने वाला था कि जोन के सैनिकों ने गोला फेंककर पुल उड़ा दिया। सेनापति और उसके सैनिक नदी में जा गिरे। जोन नर-संहार का यह दृश्य देख बहुत दुःखी हुई, पर और चारा न था।

इस तरह आरलिंस नगर का उद्धार कर जोन टूर्स नगर की ओर बढ़ने लगी। उसे ज़रा भी समय व्यर्थ नष्ट करना सह्या न था। जब कि आरलिंस निवासी जीत की खुशी में जश्न मनाना चाहते थे, जोन ने जश्न के स्थान पर सामूहिक प्रार्थना का आयोजन किया, ईश्वर को धन्यवाद दिया और आगे बढ़ गई।

सम्राट डफ़िन टूर्स में ही थे। उन्होंने आगे बढ़ जोन का स्वागत किया। जोन ने उन्हें समझा-बुझाकर रीम्स नगर में जाकर राज्याभिषेक की तैयारी के लिए राज़ी कर लिया। राजा ने जोन की सहायता के लिए एक बड़ी सेना दी। इस सेना की सहायता से जोन ने पहले जार्गो पर व फिर वर्गेसी के किले पर अपना विजय का झण्डा गाड़ दिया। पेटे भी जीत लिया गया। इसके बाद रीम्स ही लक्ष्य था। जोन की वीरता की धाक सुनकर मार्ग में पड़ने वाले स्थानीय शासकों ने, एक के बाद एक, जोन का अधिकार मान लिया और फिर राजा डफ़िन अपने दल-बल के साथ रीम्स पहुंच गया। १७ जुलाई, १४२९ को रीम्स में पूर्वनिश्चयानुसार राजा डफ़िन का राज्याभिषेक जोन ने करवा दिया। अब वह चार्ल्स सप्तम कहलाया।

जोन के कथित ईश्वरीय आदेश या सपने के अनुसार लक्ष्य पूरा हो चुका था। इसके बाद उसने गांव लौट जाने की इच्छा प्रकट की पर राजा सहमत नहीं हुआ। वह जोन की शक्ति का अनुमान लगा चुका था। समझ गया कि जोन के लौट जाने पर सेना उत्साहहीन हो जाएगी और जनता निराश। उसकी महत्त्वाकांक्षा भी

जाग उठी थी। वह पेरिस पर आक्रमण कर उसे भी अपने अधिकार में लेना चाहता था जो जोन के बिना असंभव मालूम होता था। इसलिए उसने जोन की

इच्छा को ठुकराकर उसे पुनः युद्ध के लिए विवश किया।

८ सितंबर, १४२९ ईसाइयों का पर्व दिन था। जोन उस दिन पेरिस पर आक्रमण नहीं करना चाहती थी पर राज्याज्ञा के सामने उसे झुकना पड़ा। परिणाम उल्टा होना था, हुआ। दृढ़ इच्छा-शक्ति से जो काम पहले सिद्ध हुआ था, अनिच्छा से वही अब विगड़ गया। अंग्रेज़ों की पेरिस में भारी तैयारी थी। जोन बहादुरी से लड़ी, पर हार गई। उसके अधिकांश सैनिक भाग खड़े हुए। जोन वहीं लड़ते-लड़ते प्राण दे देना चाहती थी, पर सेनापति उसे ज़बर्दस्ती युद्धक्षेत्र से हटा ले गया। इस पराजय से उसे बड़ी ग्लानि हुई। अवसर पाकर उसने फिर युद्ध किया। पर भाग्य ने साथ न दिया। वह घिर गई और शत्रुओं के हाथों बन्दी बना ली गई।

बन्दी बनाकर जोन काउण्ट लिग्नि की देखरेख में रखी गई। उस लंपट ने लक्सेमबर्ग के राजा को खुश करने के लिए जोन को सौंप दिया। पर उस सहृदय अंग्रेज़ ने जोन के साथ किसी तरह बुरा व्यवहार नहीं किया। महल की महिलाओं को उसने जोन के साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार करने का आदेश दिया। जोन ने स्त्रियों के संपर्क में आकर सैनिक वेश त्यागा और एक अरसे बाद स्त्रियों की तरह रहने लगी। उसे वहां कोई कष्ट न था। पर कैद तो थी ही! स्वदेश के प्रेम ने ज़ोर मारा और उसने महल की दीवार फांदकर भागने का प्रयत्न किया। इस बार भाग्य उलटा था ही, गिरकर भारी चोट लगने से उसका प्रयत्न व्यर्थ हो गया।

ठीक होने के बाद उसे कारागृह में भेज दिया गया। यहां असभ्य सैनिक बन्दियों के बीच फिर वह पुरुष-वेश में रहने लगी। उसके दोनों पैरों में मज़बूत लोहे की बेड़ियां थीं और ज़ंजीर से बांधकर उसे एक लोहे के पिंजरे में रखा गया था। उसपर कड़ी निगाह रखी जाती और उसे अनेक दारुण कष्ट दिए जाते। इधर जोन यह भयंकर यातना झेल रही थी, उधर रीम्स नगर में चार्ल्स अपने ऐशो-आराम में व्यस्त था। जिस जोन ने उसे राज्य दिलाया, उसीकी मुक्ति की उसे कोई चिन्ता न थी। उसने उसे दुश्मन की कैद से छुड़ाने का कोई प्रयत्न नहीं किया।

अंग्रेज़ों ने धर्मालय में जोन पर मुकदमा चलाया। वे उसे प्राणदण्ड देना चाहते थे, पर इसका आधार न बनता था। जहां भी उसके विरुद्ध प्रमाण जुटाने की चेष्टा की जाती, लोग उसके पक्ष में हो जाते। कोई उसकी याद से रोने लगता

तो कोई श्रद्धा से नतमस्तक हो जाता। धर्माध्यक्ष कचन को इससे बड़ी झुंझलाहट हुई। ९ जनवरी, १४३१ को मुकदमा शुरू हुआ। तीन-चार दिन कार्यवाही चलती रही। पर प्रयत्न से जुटाए गए प्रमाण नाकाफी हो जाते। उनके आधार पर प्राणदण्ड नहीं दिया जा सकता था। हर प्रश्न का उत्तर जोन बड़ी निर्भीकता से देती। उसे बहुत लालच दिया गया। अनेक तरह से दबाव डाले गए कि वह अपने कार्य को धर्मविरुद्ध मानकर क्षमा मांग ले। उनका विचार था कि धर्म-विरुद्ध आचरण मान लेने पर बाद में उसी आधार पर उसे प्राणदण्ड दिया जा सकेगा। पर जोन टस से मस न हुई। वह बराबर कहती रही कि यह धर्मालय है और उसका कार्य सर्वथा धर्म के अनुकूल था। उसका हर बार दृढ़ उत्तर होता, "अग्नि में फेंक दिए जाने पर भी मैं यही कहूंगी, क्योंकि यह सच है। और यही मेरा धर्म है।"

फिर भी उसे धर्मद्रोही ठहराकर अन्त में जीवित अग्निकुण्ड में जला देने की क्रूर सज़ा सुना दी गई। जोन ज़रा भी विचलित नहीं हुई। ज़ंजीरों से जकड़े शरीर से उसने झुककर ईश्वरोपासना की। फिर चिता पर जाते हुए उपस्थित जनसमूह से बोली, "मेरी आत्मा के कल्याण के लिए आप लोग प्रार्थना कीजिए और स्वयं भी शुभकर्म में प्रवृत्त होइए।" उसके ये संवेदनापूर्ण शब्द सुनकर सभीकी आंखों में आंसू आ गए। सज़ा देने वालों के हृदय भी एकबारगी कांप गए। वीर-बाला ने एक अंग्रेज़ के हाथ से छड़ी मांगकर उसका क्रास बनाया। भक्तिपूर्वक उसे हृदय से लगाया और फिर चिता पर चढ़ गई। थोड़ी ही देर में अग्निशिखाओं ने उसे राख की ढेरी कर दिया।

शत्रुओं ने उसकी पूरी भस्मी नदी में बहाकर नामोनिशान मिटा दिया था। पर स्वदेश और कर्तव्य पर मिटने वालों का नाम कौन मिटा सकता है? उसी धर्मालय में कुछ वर्षों बाद अगले धर्मविचारकों ने अपने पूर्व धर्मयाजकों के फैसले को अन्यायपूर्ण करार दे दिया। जोन को लोगों ने सिर-आंखों पर चढ़ा लिया। उसे साध्वी और देवी घोषित किया गया। और इस प्रकार जन-जन की श्रद्धा ने उसे अमर बना दिया—युगों के लिए।

जोन का नाम फ्रांस की स्वतन्त्रता के इतिहास में ही नहीं, विश्व-इतिहास में भी अमर है। संसार-भर के तरुण-तरुणियों को प्रेरणा देने वाली जोन की कहानी हर देश के हर बालक को पढ़ाई और सुनाई जाती है। जोन का बलिदान व्यर्थ नहीं गया। स्वार्थी डफिन या सप्तम चार्ल्स जिन प्राणों की कीमत न समझ पाया, आने वाली पीढ़ियों ने उन प्राणों की कीमत चुकाई, और जी भरकर चुकाई। विश्व में हर जगह उसका नाम आज भी बड़ी श्रद्धा और आदर से लियाजाता है।

कोलम्बस की खोज की भागीदार

रानी इज़ाबेला

३ अगस्त, १४६२ को पालोस बन्दरगाह से कोलम्बस की जो महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक यात्रा प्रारंभ हुई थी, उसका प्रबन्ध करने वाली कैस्टिल (स्पेन) की रानी इज़ावेला के बारे में सामान्यत: लोग बहुत कम जानते हैं। उस साहसी अभियान की योजना तो कोलम्बस की ही थी, पर उसे क्रियान्वित करने के लिए उसके पास साधन न थे। कोलम्वस ने कई राज्यों से सहायता मांगी पर सभी जगह से निराश लौटा, यहां तक कि इज़ावेला के पति फर्डीनांड से भी, जो उस समय आरागान का राजा था। अन्त में वह इस आशा से इज़ावेला के पास आया कि शायद नारी-हृदय पसीज जाए और वह सहायता के लिए तत्पर हो जाए।

कोलम्बस का विचार ठीक था। इज़ाबेला ने बड़े ध्यान और सहानुभूति से कोलम्वस की वात सुनी। बात उन्हें जंच गई। उन्होंने योजना में पूरी रुचि ली, उसका महत्त्व समझा और सहायता के लिए तैयार हो गईं। कोलम्बस को राज-

कीय संरक्षण और राज्य-कोष से ही धन नहीं दिया गया, इज़ाबेला ने अपने कई मूल्यवान आभूषण भी उतारकर दे दिए। साधन जुटाए गए। तीन जहाज़ तैयार

किए गए और इस तरह वह महत्त्वपूर्ण यात्रा प्रारम्भ हो सकी। कोलम्बस को खोज-यात्रा पर रवाना करके ही उन्होंने अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ ली। अभियान की सफलता में भी उनकी पूरी रुचि बनी रही। कोलम्बस के दो लड़कों को नौकरी देकर उन्होंने उस अभियान को ही नहीं, पूरे परिवार को भी अपने संरक्षण में ले लिया था।

इज़ाबेला का जीवन यद्यपि कई उतार-चढ़ावों और क्षणिक आवेगों से भरा था पर वे कट्टर सिद्धान्तवादी थीं। जिस बात को एक बार सोच लेतीं, तर्क पर उचित ठहरा लेतीं, उसके बाद उन्हें कोई भी उस कार्य से नहीं रोक सकता था। वे एक उच्चकोटि की शासक थीं और अनेक गुणों से सम्पन्न महत्त्वाकांक्षी नारी। अपनी मान्यताओं, आदर्शों और सिद्धान्तों की आन पर बड़े-बड़े निर्णय ले लेती थीं और प्रायः उनमें सफल भी होती थीं। अपने तीव्र मनोबल पर उनका पूरा विश्वास था और अपनी प्रजा के प्रति अगाध प्रेम। इसीलिए उनका राज्यकाल देश के इतिहास में एक अमिट छाप छोड़ गया। अपने जीवनकाल में अर्जित लोकप्रियता और ख्याति को उन्होंने इतना व्यापक और अमर बना दिया कि आज स्पेन में ही नहीं, विश्व-भर की महिलाओं में उनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है।

इज़ाबेला का जन्म सन् १४५० में हुआ। वे कैस्टिल के राजा जान द्वितीय की, उनकी दूसरी शादी से, पुत्री थीं। हेनरी चतुर्थ उनका सौतेला बड़ा भाई था जो एक 'नपुंसक' राजा कहलाया। पिता के बाद जब वह गद्दी पर बैठा तो उसके राज्यकाल में सर्वत्र दुर्व्यवस्था और अराजकता का बोलबाला रहा। राज्य-कर्मचारी भ्रष्टाचार और भाई-भतीजावाद के शिकार हो चले थे। इज़ाबेला सारी स्थितियों का सूक्ष्मता से निरीक्षण करती रहीं, राज्य की स्थिति से दुःखी होती रहीं, पर दरबारियों ने जब उनसे राजकाज संभालने की प्रार्थना की तो वे एकाएक राज़ी नहीं हुईं। धर्म में उनकी बहुत श्रद्धा थी और धर्म या औचित्य के अनुसार राज्य का अधिकारी हेनरी चतुर्थ ही था, वे नहीं।

जब दरबारियों का दबाव बढ़ता गया तो समझौते की एक राह निकाली गई। इज़ाबेला ने राज्य की संभावित उत्तराधिकारिणी बनना स्वीकार किया। शर्तों के अनुसार, हेनरी ने अपनी रखैल से संबंध विच्छेद किया और अपनी अवैध लड़की जोन को संभावित राज्याधिकार से वंचित किया। इज़ाबेला को हेनरी की यह शर्त माननी पड़ी कि वे उसकी अनुमति बिना विवाह नहीं करेंगी, पर

बदले में हेनरी भी उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हें विवाह के लिए मजबूर नहीं करेगा। यह अंतिम शर्त महत्वपूर्ण थी। हेनरी ने राजनैतिक स्वार्थवश दो बार अयोग्य व्यक्तियों से इज़ावेला का विवाह कर देना चाहा पर उन्होंने इन्कार कर दिया। बाद में जब इज़ावेला ने हेनरी की इच्छा के विरुद्ध आरागान के राजकुमार फर्डीनांड से विवाह कर लिया तो हेनरी ने शर्त तोड़ने का बहाना ले फिर अपनी पुत्री जोन को उत्तराधिकारिणी घोषित कर दिया। उसने अपने साथियों द्वारा इज़ावेला का अपहरण करवाने का भी प्रयत्न किया पर इज़ावेला के विश्वस्त साथियों ने उनकी सहायता की और वे बच गईं।

राज्य की संभावित उत्तराधिकारिणी की कल्पना से ही इज़ावेला अपनी ज़िम्मेदारी समझने लगी थीं। उन्होंने प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा की कमी को अपने अध्यवसाय से पूरा किया। अनेक भाषाएं सीखीं। महापुरुषों की जीवनियां पढ़ीं। अंतर्राष्ट्रीय कूटनीति और विद्वानों की समझी जाने वाली भाषा लैटिन पर अधिकार प्राप्त किया। आसपास के वातावरण के प्रति जागरूकता उत्पन्न की और स्वयं को हर तरह से योग्य बनाने के लिए बड़ा परिश्रम किया। इस संघर्ष से गुज़रते हुए प्राप्त अनुभव और अध्यवसाय से उन्होंने अपने व्यक्तित्व को इतना समर्थ और जनप्रिय बना लिया कि समय पर यही लोकप्रियता उनके काम आई। इज़ावेला को हेनरी कोई क्षति पहुंचा सकता, यह संभव ही न रहा।

विवाह के समय इज़ावेला के पास कुछ भी न था। अपने विश्वस्त साथियों की मदद से उन्होंने किसी तरह काम चलाया। विवाह के बाद फर्डीनांड अपने पिता के पास चले गए क्योंकि वहां तब युद्ध चल रहा था। इस बीच हेनरी के राज्यशासन से जन-असंतोष बढ़ता गया और दरबारियों ने इज़ावेला फर्डीनांड के अधिकारों की मांग की। निर्णय इज़ावेला के पक्ष में हुआ। यहां तक कि फर्डीनांड के अधिकार भी उनके अधिकारों से सीमित थे।

हेनरी व जोन के समर्थकों ने चिढ़कर पुर्तगाल के राजा से मिलकर इस दम्पति के खिलाफ युद्ध छेड़ दिया। इज़ावेला तब मां बनने वाली थीं। उन्हें आराम की ज़रूरत थी पर उनके भीतर की वीर नारी जाग उठी। कभी पैदल, कभी घोड़े पर सवार हो वे स्वयं सैनिक-छावनियों का निरीक्षण करतीं और सारी गतिविधियों पर निगाह रखतीं। इस प्रकार पत्नी की सक्रिय सहायता से फर्डीनांड दुश्मनों को हराने में सफल हो गए। फिर पिता की मृत्यु के बाद उधर फर्डीनांड आरागान के राजा बने और इधर इज़ावेला कैस्टिल की रानी घोषित कर दी गईं। दोनों राज्य एक संयुक्त संधि में बंध गए और अपनी शक्ति को विकसित करने लगे।

इज़ाबेला का महत्त्वपूर्ण कार्य इसके बाद ही प्रारम्भ होता है। राज्य-सुधार, जनहितों की रक्षा और सुचारु शासन-व्यवस्था के लिए वे अपने पति फर्डीनांड से अधिक योग्य सिद्ध हुईं और अधिक लोकप्रियता अर्जित करने में समर्थ हुईं। इज़ाबेला धार्मिक विचारों की ममतामयी नारी थीं और सूझ-बूझ की धनी। फर्डीनांड हमेशा राज्य-विस्तार के बारे में सोचते, इज़ाबेला राज्य-सुधार के बारे में। उन्होंने सूदूर अविकसित देशों में राज्य-विस्तार के बजाय शिक्षा और धर्म के प्रसार पर बल दिया।

इज़ाबेला के राज्य में 'होली ब्रदरहुड' (पवित्र भाईचारा) नामक पुलिस फोर्स की स्थापना इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। यह पुलिस किसी भी उच्च से उच्च पद के अधिकारी को दोषी पाने पर उसे दण्डित कर सकती थी। अपने इस कदम से रानी इज़ाबेला को निरंकुश अधिकारियों के कई षड्यंत्रों का शिकार होना पड़ा, पर उन्होंने सब गतिरोधों पर विजय पाई। जनता का विश्वास ही उनकी सबसे प्रबल शक्ति थी और अपना आत्मविश्वास ही सबसे बड़ा संबल। एक बार कुछ भीड़ ने किले के दरवाज़े पर आक्रमण किया तो उन्होंने बड़े आत्म-विश्वास से किले का दरवाज़ा खुलवा दिया। जनता की शिकायतें सुनीं और उन्हें दूर करने का आश्वासन दिया। इस तरह धीरज और आत्मविश्वास से एक भयंकर विद्रोह को शांत करने में सफल हुईं।

इज़ाबेला ने विद्वानों का सम्मान किया और उन्हें संरक्षण प्रदान किया। जनता को उचित और तत्काल न्याय सुलभ किया। दोषियों को दण्ड देने में किसी भी प्रलोभन के आगे वे नहीं झुकीं। धर्म के नामपर अत्याचार करने वालों पर हर तरह की सख्ती करने से नहीं चूकीं। लेकिन ये अत्याचार उस समय इतने अधिक होते थे कि अनेक मामलों में खल्लम-खुल्ला पाप का समर्थन पाने पर भी वे उन्हें रोकने में सफल नहीं हो पाती थीं। तब उन्हें गहरा दुःख होता। और इन धार्मिक मामलों पर ही वे प्रायः कमज़ोर पड़ जाती थीं। पर मनुष्यता के नाते अफ्रीकी और भारतीय बंदियों के प्रति उनका व्यवहार नरम था। गरीबों और दुखियों की सहायता करने में सदा आगे रहती थीं। सैनिकों के हितों का पूरा ध्यान रखती थीं और घायलों की चिकित्सा में व्यक्तिगत रुचि लेती थीं। ग्रांडाना विजय के समय उन्होंने घोड़े पर चढ़ सशस्त्र युद्ध में भी भाग लिया। एक बार टेंट में आग लगने से वे बाल-बाल बचीं। इसी युद्ध में सैनिक साधनों में कमी आने पर वे अपने आभूषण देने से भी नहीं चूकीं। मैड्रिड के म्युज़ियम में उनकी युद्ध-पोशाक अभी भी सुरक्षित है।

यह जितनी वीर थीं, उतनी ही धीर भी। उनके नवविवाहित बड़े

लड़के की एक आकस्मिक दुर्घटना में मृत्यु हो गई। इसके एक वर्ष बाद बड़ी लड़की चल बसी और छोटी पागल हो गई। पर उन्होंने सभी आघातों को शांति से झेल लिया। स्वयं बीमार थीं, पर इसी समय फ्रांस के आक्रमण से आरागान की रक्षा के लिए पति का साथ देने चल दीं। फिर शत्रु को खदेड़ने में उनकी सहायता करके लौटीं।

महत्त्वाकांक्षी होने पर भी इज़ाबेला की निजी इच्छाएं बहुत सीमित थीं। वे महत्त्वाकांक्षी थीं, केवल गुणों के अर्जन के लिए और यशस्वी जीवन के लिए। और यह दोनों उपलब्धियां उन्होंने अर्जित कीं। उनकी अंतिम इच्छा थी; मृत्यु-परांत उन्हें ग्रांडाना राज्य में शान्ति व सादगी से दफनाया जाए और इसपर अधिक खर्च न कर वही धन गरीबों में बांट दिया जाए। २६ नवम्बर, १५०४ को ५४ वर्ष की आयु में वे इस संसार से विदा हुईं···अपने पीछे अपनी ख्याति-छाया छोड़कर। विश्व की महिलाओं को रानी इज़ाबेला पर गर्व है और कोलंबस की खोज की भागीदार इस रानी के प्रति आज के सर्वाधिक समृद्ध देश स्पेन की महिलाएं कृतज्ञ हैं।

आदर्श नारी, आदर्श शासिका

मेरिया तेरेसा

मेरिया तेरेसा—आस्ट्रिया का एक ऐसा नाम जो युगों तक महिलाओं के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गया।

मेरिया तेरेसा—एक आदर्श नारी, एक आदर्श पत्नी, एक आदर्श मां और एक आदर्श शासिका। इस सम्मिलित रूप में ही उन्हें जाना और याद किया जाता है।

रात को अपने सोने का समय भी जिसे जनता से छीना हुआ समय लगे और इसके लिए मन में अपराधी भावना जागे, जनकल्याण के लिए समर्पित ऐसा ही एक व्यक्तित्व—मेरिया तेरेसा।

चालीस वर्षों तक के अपने लम्बे राज्य में जिसने निरन्तर सत्य और न्याय से प्यार किया, नैतिकता को कट्टरता से निवाहा और प्रचारित किया, जन-कल्याण, शिक्षा, सामाजिक सुधार, महिला-उद्धार के ध्येय को सदा सामने रखा, प्रजा से

जिसे आत्मीय प्यार था और दुश्मन भी जिसका नाम बड़े आदर के साथ लेते थे—वही लोकप्रिय नाम था मेरिया तेरेसा।

आस्ट्रिया के चार्ल्स छठवें की मेरिया तेरेसा एकमात्र लड़की थीं। मां का नाम था इलिज़ावेथ क्रिस्टिना। चार्ल्स के कोई लड़का न होने से वसीयत के अनुसार मेरिया ही गद्दी की हकदार थीं। १७४० में जर्मनी (आस्ट्रिया के निवासी जर्मन जाति के थे। अठारहवीं शताब्दी में जर्मनी किसी एक राज्य का नाम नहीं था। पवित्र रोमन साम्राज्य में सम्मिलित जर्मनी में उस समय छोटे-बड़े ३६० के लगभग राज्य थे। ये सब और हंगरी भी आस्ट्रिया की राजधानी वियाना स्थित हापुंसवुर्ग वंश के राजा की अधीनता स्वीकार करते थे। वही पवित्र रोमन सम्राट कहलाता था) के सम्राट पिता की मृत्यु के बाद जब मेरिया तेरेसा के सम्राज्ञी बनने का समय आया तो कई दावेदार और खड़े हो गए। स्पेन, फ्रांस, सारडीनिया के राजा तथा प्रशिया के फ्रेडरिक द्वितीय भी इन दावेदारों में से थे, जिन्होंने साम्राज्य के अलग-अलग हिस्सों पर अपने पृथक् अधिकार का दावा किया। मेरिया तेरेसा तब अधिक वयस्क और अनुभवी न थीं। उन्नीस वर्ष की आयु में उनका विवाह फ्रांसिस आफ लारेन से हुआ था, जो एक वर्ष बाद ग्रैंड ड्यूक आफ टस्कनी बन गया था। गद्दी के लिए संघर्ष के समय मेरिया बाईस वर्षीया अनुभवहीन नवयुवती थीं। इसके अलावा एक वर्ष के अपने पहले बच्चे की मां भी। फिर भी उन्होंने विरोधियों का बड़ी दृढ़ता से सामना किया।

आस्ट्रिया और बोहिमिया जीतकर उन्होंने हंगरी में शपथ ग्रहण की और रानी घोषित कर दी गईं। इसके बाद प्रशिया के फ्रेडरिक द्वितीय ने सिलीसिया पर तथा बावेरिया के इलेक्टर ने फ्रांस के राजा की मदद से वियाना पर हमला कर दिया। दोनों ओर से घिर जाने पर मेरिया ने हंगरी के दरबारियों और लोगों से अपील की। मेरिया तेरेसा सुंदर तो थीं ही, छोटा बच्चा भी उनकी गोद में था। मेरिया के अधिकार का ही प्रश्न न था, उस नन्हे भावी राजा की सुरक्षा का भी प्रश्न था। प्रजा पर उनकी अपील का अच्छा प्रभाव हुआ और मेरिया अपनी सेना से दुश्मनों को खदेड़ने में सफल हो गईं।

मेरिया तेरेसा जीत गईं पर चार्ल्स छठवें के खज़ाने में कुछ धन शेष न रहा। सेना भी बहुत थोड़ी रह गई। उसी समय वे अपने दूसरे बच्चे की मां भी बनने वाली थीं। पर इस सारे संकट का सामना उन्होंने बड़े धैर्य से किया। उनकी दृढ़ इच्छा-शक्ति देखकर इंग्लैंड व कुछ अन्य पड़ोसी देशों की स्त्रियों का व्यापक समर्थन उन्हें मिला। उन्होंने चंदा करके मेरिया के सहायतार्थ एक लाख पौंड भी

भेजे, पर मेरिया ने इस चंदे से प्राप्त धन को स्वीकार नहीं किया। मेरिया की

दृढ़ता देखकर तब अन्य पड़ोसी राजाओं ने भी उनसे समझौता कर लिया था। १७४५ में मेरिया के पति को भी ताज देकर फ्रांसिस प्रथम वना दिया गया। तीन साल के इस लंबे संघर्ष में एक सिलीसिया को छोड़कर शेष सारे साम्राज्य पर उनका अधिकार हो गया और १७४८ में वे सम्राज्ञी बन गईं।

शांति स्थापित होते ही मेरिया तेरेसा के राज्य में सुधारों का सिलसिला चल पड़ा। उन्होंने कृषि-उत्पादन बढ़ाया। कला, व्यापार, जहाज़रानी, सड़कों का विस्तार किया। राजधानी वियाना को सुन्दर बनाने के लिए निर्माणकार्य प्रारंभ किया। कारखाने स्थापित किए। शिक्षा की उन्नति के लिए विशेष योजनाएं चलाई—बड़े शहरों में 'प्रिंसीपल-स्कूल' और 'कर्मशियल-स्कूल' खोले। सभी राज्यों में 'नार्मल स्कूल' स्थापित किए और ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीण उद्योगों-व्यवसायों की उन्नति के लिए छोटे-छोटे कर्मशियल स्कूल व केंद्र खोलकर उनका संचालन स्थानीय पादरियों के सुपुर्द कर दिया। नगरों के 'प्रिंसीपल-स्कूल' नगर मजिस्ट्रेट के शासन के सुपुर्द थे। शिक्षकों की पत्नियों को ही कुछ अतिरिक्त वेतन देकर उन्हें घरेलू कलाएं सिखाने के लिए लड़कियों के स्कूलों में अंशकालिक (पार्ट टाइम) नियुक्तियां दे दी गई थीं। इसके अतिरिक्त कला, स्थापत्य, विज्ञान की शिक्षा के लिए 'स्पेशल-स्कूल' भी खोले गए थे। मेरिया तेरेसा द्वारा स्थापित कला, वाणिज्य और शिल्प-शिक्षा का आस्ट्रिया की उन्नति में बहुत हाथ है।

मेरिया ने पहले के कई काले कानूनों में संशोधन कर गरीब किसानों को शोषण से मुक्त कराया। लड़ाई में मारे जाने वाले सैनिकों के परिवारों की सहायतार्थ सहायता-केंद्र खोले। स्वयं कट्टर कैथोलिक होने पर भी प्रोटेस्टेंट व अन्य सभी धर्मों को पनपने की पूरी छूट दी। वे गण्यमान्य व्यक्तियों की पेन्शन भी बंद करना चाहती थीं पर इसमें खतरा समझकर कुशलता से उसे घटाने में ही सफल हुईं। धार्मिक संस्थाओं के संचालकों को उन्होंने पूरी स्वतंत्रता दे रखी थी, चाहे वे किसी भी धर्म से संबंधित क्यों न हों।

मेरिया तेरेसा स्वयं बड़ी कट्टर नैतिकतावादी थीं। इस मामले में लोगों पर भी सख्ती से अपना अनुशासन कायम रखती थीं। बदनाम होटल और अनैतिकता के समस्त अड्डे उन्होंने खत्म कर दिए और दल्लों को देश से बाहर निकाल दिया। उन तथाकथित पतित स्त्रियों को नैतिक पतन से बचाकर फैक्टरियों में काम पर लगा दिया गया। पीड़ित महिलाओं की सहायता करने के लिए वे लोगों के पारिवारिक मामलों में हस्तक्षेप करने से भी नहीं चूकती थीं। जहां

भी पता चलता कि कोई पति अपनी पत्नी की उपेक्षा कर बाहर की बदनाम स्त्रियों के साथ समय बिताता है, पुलिस उसे २४ घंटों के भीतर देश से बाहर कर देती थी। पति द्वारा पत्नी को मारने-पीटने या अन्य किसी तरह सताए जाने पर भी पति को किसी न किसी प्रकार की सज़ा देने का विधान था।

घर में भी मेरिया ने दैवी गुणों से भरपूर एक पवित्र नारी, आदर्श मां और आदर्श पत्नी की भूमिका निभाई। पवित्रता और नैतिकता की प्रस्थापना के लिए वे कड़ाई और प्यार दोनों शक्तियों को काम में लाती थीं। अधिकतर तो लोगों को प्यार से ही समझाकर वश में कर लेती थीं। भविष्य में पवित्र जीवन बिताने का वादा करने पर कई अपराधियों के अपराध क्षमा कर देती थीं। आठ बच्चों की मां होने और जनकल्याण कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहने पर भी वे छोटे से छोटे कार्य को स्वयं देखती थीं। छोटे से छोटे व्यक्ति से भेंटकर उसका दुःख-दर्द सुनती थीं। एक बार उन्होंने एक बुढ़िया के साथ दो छोटे-छोटे भूखे बच्चों को भीख मांगते देखा तो घबरा गईं, 'मेरे राज्य में यह क्यों?' उन्होंने बुढ़िया को बुलाया, पूछा, फिर उसकी तात्कालिक सहायता करने के अलावा उसे मासिक पेन्शन भी दी।

हर समय कार्य-व्यस्त रहने पर भी उन्हें प्रायः लगता कि वे लोगों का समय छीनकर उसका अपनी नींद में उपयोग करती हैं। और सोचतीं 'काश मैं रात-भर जाग कर भी काम कर पाती! इतनी व्यस्त और इतनी सफल शासिका, फिर भी पुत्र-पुत्रियों की शिक्षा व उनके चरित्र-निर्माण में पूरा ध्यान और पति को इतनी समर्पित कि १७६५ में पति की मृत्यु हो जाने पर हर महीने नियम से उनकी भस्मी के दर्शन करने जाती रहीं। पति की मृत्यु वाली घटना का उनपर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि इसके बाद वे मृत्यु को एक मिनट भी नहीं भूलती थीं। फलस्वरूप उनकी धार्मिक निष्ठा और जनकल्याण प्रवृत्ति और बढ़ गई थी। पड़ोसी देशों में से कइयों को उन्होंने अपनी सद्भावना से ही जीत लिया था। जब प्रिंस कौनिट्स को उन्होंने फ्रांस की सद्भावना-यात्रा पर भेजा तो उससे फ्रांस का राजा इतना प्रभावित हुआ कि वह मेरिया तेरेसा का सबसे बड़ा समर्थक बन गया था।

एक बार रूस की रानी कैथरीन द्वितीय ने टर्की पर हमला कर उसे जीतना चाहा। तेरेसा तुरन्त टर्की की मदद के लिए तैयार हो गईं। पर बाद में दोनों रानियों में समझौता हो गया और परिणामस्वरूप पोलैंड का विभाजन स्वीकार कर लिया गया। कहते हैं, एक नारी शासिका द्वारा दूसरी नारी शासिका का पक्ष लेने के कारण, या इसके पीछे और जो भी कारण रहे हों, मेरिया तेरेसा से अपने

पूरे राज्यकाल में यही एक गलती हुई। यह भयंकर भूल उनके सुनहरे राज्य-शासन पर एक धब्बा बनकर रह गई।

पति की मृत्यु के बाद मेरिया तेरेसा का बड़ा पुत्र जोसेफ द्वितीय सम्राट बन गया, पर जन-हित में शासन के अधिकार फिर भी मेरिया के पास ही रहे। वे जो उचित समझती थीं, वही करती थीं, जोसेफ द्वितीय उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। सभी को विश्वास था कि राजमाता के पास बिना किसी भेदभाव के सभी की सुनवाई होगी।

६३ वर्ष की आयु में २९ नवंबर, १७८० को मेरिया तेरेसा का देहांत हो गया। मृत्यु से पूर्व उन्होंने कहा, "यदि मुझसे कुछ भी अन्यायपूर्ण घट गया हो तो वह अनजाने में हुआ होगा। ईश्वर मुझे उन अनजाने अपराधों के लिए क्षमा करे।" सचमुच वे भलमनसाहत की मित्र और बुराई की शत्रु थीं। इसीलिए घर में, राज्य में, और पड़ोसी देशों में सभी का मन उन्होंने जीत लिया था। मेरिया का एकमात्र दुश्मन था, प्रशिया का राजा फ्रेडरिक द्वितीय जिसे वे अंत तक नहीं जीत सकी थीं ; न युद्ध से, न सद्भावना से, पर वह भी उनका सम्मान खूब करता था। फिर आने वाली पीढ़ियों में वह सम्मानित क्यों न होतीं !

जिनकी एक पुस्तक ने तहलका मचा दिया

हैरियट एलिज़ाबेथ स्टो

एकसाथ आठ प्रेस जिस अकेली पुस्तक को छापने में लगे हुए थे, छपते ही जिसकी तीन लाख प्रतियां बिक गईं, संसार-भर में जिसने तहलका मचा दिया, विश्व की तेईस भाषाओं में जिसका अनुवाद हुआ और असंख्य पाठक जिसे पढ़कर रो पड़े, उस अनोखी पुस्तक का नाम था—'अंकल टाम्स केबिन' या 'टाम काका की कुटिया,' और उसकी अनोखी लेखिका थीं—छह बच्चों की मां श्रीमती हैरियट स्टो।

अपने छठे बच्चे को गोद में लेकर उन्होंने अपनी भाभी को एक पत्र लिखा था, "भाभी, जब तक बच्चा छोटा है और रात को मेरे पास सोता है, तब तक मैं कोई काम नहीं कर सकती, पर मैं करूंगी अवश्य। यदि ज़िन्दा रही तो इस दासत्व प्रथा के विरोध में ज़रूर लिखूंगी।" और बच्चे के ज़रा बड़ा होते ही उनका यह संकल्प पूरा हुआ।

रविवार का एक दिन। श्रीमती स्टो गिरजाघर में धर्मोपदेश सुन रही थीं —"शुभ काम में देर नहीं करनी चाहिए"—कि एकाएक उनके मन में अपनी पुस्तक प्रारम्भ कर देने की प्रेरणा जागी और उन्होंने बिजली की गति से वहीं बैठे-बैठे पहला अध्याय लिख डाला। घर आकर जब उन्होंने अपने बच्चों को वह अध्याय सुनाया तो सुनकर बच्चों की आंखों से टपटप आंसू गिरने लगे। तभी एलिज़ाबेथ के पति श्री स्टो भी आ पहुंचे। बच्चों को रोते देख वे हैरान रह गए। फिर जब उन्होंने पुस्तक की शुरुआत देखी तो वे भी आंखों में आंसू भर लाए। इस प्रकार प्रारंभ हुआ उस महान ग्रन्थ का, जिसने आगे चलकर संसार में अपना एक अलग कीर्तिमान स्थापित किया।

पर यह शुरुआत यों ही नहीं हो गई थी। उसके पीछे करुणा-विगलित एक लंबी कहानी है। अमेरिका में उन दिनों गुलामी की प्रथा ज़ोरों पर थी। नीग्रो लोगों से अमानुषिक व्यवहार किया जाता था। जानवरों की तरह उनकी खरीद-फरोख्त होती थी और बेचारों को नरकतुल्य यातनाएं दी जाती थीं। छोटे-छोटे बच्चों से मां को और पत्नी से पति को निर्दयतापूर्वक अलग कर उन्हें गुलाम बना लेना सामान्य बात थी। श्रीमती स्टो इन गुलामों की दुर्दशा देखतीं और उनका दिल रो उठता। क्रियात्मक रूप से कुछ करने में स्वयं को असमर्थ पा मन ही मन संकल्प करतीं, 'मैं इस प्रथा के खिलाफ़ लिखूंगी, अवश्य लिखूंगी। वैसे तो मैं समुद्र में डूब जाऊं तो भी अपने साथ इन पापों-अत्याचारों को नहीं डूबो सकती। इसलिए दूसरा कोई चारा नहीं। लिखना ही होगा। और एक दिन जब यह संकल्प पूरा हुआ तो सचमुच ही उसने हज़ारों-लाखों व्यक्तियों को गुलामी प्रथा का ज़बर्दस्त विरोधी बना दिया। दक्षिणी रियासतों में इसने युद्ध करा दिया। इसी युद्ध ने गुलामी प्रथा को जड़ से काट फेंकने का काम किया।

पुस्तक का तत्कालीन सामान्य लोगों पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। बोझा ढोते समय मज़दूर आपस में बात करते, "भाई, तुमने टाम काका की कुटिया पढ़ी है? बड़ी ही भयंकर पुस्तक है। पढ़कर दिल दहल जाता है।" मुहल्ले की औरतें परस्पर चर्चा में एक दूसरे से कहतीं, "बहन, ज़रा उस पुस्तक को पढ़कर देखना, बड़ी हृदयवेधक है।" दरअसल गुलामी-प्रथा के उच्छेदन के लिए जितना इस पुस्तक ने काम किया, उतना किसी और ने अब तक नहीं किया था। इसीलिए सन् १८६३ में जब श्रीमती स्टो 'ह्वाइट हाउस' में गईं तो श्री लिंकन ने, जो स्वयं ऊंचे कद के थे, श्रीमती स्टो से हाथ मिलाते हुए कहा था, "क्या इसी छोटी-स्त्री ने वह महान युद्ध करा दिया?"

हैरियट एलिज़ाबेथ का जन्म १४ जून, सन् १८११ को संयुक्त राज्य

अमेरिका के लिचफील्ड नामक स्थान में हुआ था। वह अभी चार वर्ष की ही थी कि उसकी माता चल बसीं। बड़ी बहन कैथेराइन ने ही, जो स्वयं उस समय पन्द्रह-वर्षीया किशोरी थी, उसका पालन-पोषण किया। कैथेराइन शिक्षित थी और जीविका के लिए स्वयं अपना एक स्कूल चलाती थी। हैरियट एलिज़ाबेथ ने इसी स्कूल में शिक्षा पाई और फिर वहीं अध्यापिका बन गई। फिर जब उसके पिता एक धार्मिक विद्यालय के प्रधान बनकर सिनसिनाती नामक नगर में जा बसे तो बड़ी बहन कैथेराइन ने वहां एक महिला कालेज खोल दिया और हैरियट एलिज़ाबेथ उसकी सहायिका के रूप में काम करने लगी। छोटी उम्र से ही उसकी रुचि साहित्य की ओर मुड़ गई। विद्यालय की साहित्यिक गतिविधियों में खूब भाग लेती और स्थानीय पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखती। कुछ कहानियां, स्केच भी उसने लिखे और भूगोल की एक पुस्तक भी।

फिर सन् १८३६ में विवाह के बाद तो श्रीमती हैरियट एलिज़ाबेथ स्टो को लिखकर अपनी जीविका भी कमानी पड़ी। पति प्रायः अस्वस्थ रहते थे और उनकी आय भी कम थी। चिन्ताग्रस्त श्रीमती स्टो बच्चों के साथ समय निकाल-कर लेख लिखतीं और परिवार का खर्च चलातीं। १८४३ में 'मेफ्लावर' नाम से उनका एक कहानी-संग्रह प्रकाशित हुआ। फिर बच्चों के लालन-पालन के बाद एक अंतराल से सन् १८५२ में उनकी यह अमर पुस्तक 'टाम काका की कुटिया' प्रकाशित हुई और वह एकाएक संसार के सामने आ गई। पुस्तक से ख्याति भी मिली और धन भी, पर जिन परिस्थितियों में यह महान ग्रन्थ लिखा गया, उसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। श्रीमती स्टो साधनहीनता की स्थिति में ही एक बड़े परिवार की गृहस्थी संभालती थीं। खाना पकाने से लेकर बर्तन साफ करने, कपड़े धोने, सीने, खिड़कियों, दीवारों पर रंग करने और घर-भर के जूते गांठने तक का काम वह स्वयं अपने हाथ से करती थीं। खूब परिश्रम के साथ खर्च में किफायत के लिए भी छोटी से छोटी बात पर उन्हें ध्यान देना पड़ता था। पढ़ने-लिखने के लिए बहुत ही कम समय मिल पाता। रातों जाग-जागकर उन्होंने अपना संकल्प पूरा किया, संभवतः इसीलिए उन गरीब गुलामों के प्रति इतनी गहरी संवेदना उसमें उंड़ेल पाईं।

पुस्तक के छपते ही इंग्लैंड व अमेरिका के कोने-कोने से अनेक कवियों, लेखकों, विद्वानों ने श्रीमती स्टो के पास बधाईपत्र भेजे। स्थान-स्थान पर उनका अभिनन्दन किया गया। संसार की सभी प्रमुख भाषाओं में 'टाम काका की कुटिया' के अनुवाद प्रकाशित हुए। पुस्तक-प्रकाशन के चार महीने बाद ही जब श्रीमती स्टो को दस हज़ार डालर का चेक मिला तब पहली बार उन्होंने अपने

पति के साथ यूरोप भ्रमण किया। पेरिस में इस पुस्तक के आधार पर एक ड्रामा लिखा और खेला गया जो आठ अंकों में समाप्त हुआ और रात डेढ़ बजे तक लोग

इसे देखकर रोते रहे। यूरोप से लौटकर श्रीमती स्टो ने एक दूसरी पुस्तक लिखी—'ए की टू अंकल टाम्स केबिन' जिसमें उन्होंने तर्क और प्रमाणों द्वारा अपनी कहानी की प्रामाणिकता सिद्ध की। बाद में उन्होंने कुछ ग्रन्थ और भी लिखे, धार्मिक कविताओं का एक संग्रह प्रकाशितकरवाया औरअनेक प्रसिद्ध पत्रों में लेख भी लिखती रहीं, पर उनका नाम अमर करने के लिए वह एक पुस्तक ही पर्याप्त सिद्ध हुई।

श्रीमती हैरियट एलिज़ाबेथ स्टो एक अच्छी लेखिका ही नहीं, सफल पत्नी और आदर्श मां भी थीं। कष्टपूर्ण जीवन बिताते हुए भी पति-पत्नी में परस्पर असीम प्यार था। बच्चों के लिए अपना जीवन खपाने में भी उन्हें गौरव अनुभव होता था। अपनी सहेली को लिखे एक पत्र में उन्होंने बच्चों की सेवा को ही अपना वास्तविक कार्यक्षेत्र माना था और इच्छा ज़ाहिर की थी कि अपने इस प्रिय कार्य को करते ही वह बूढ़ी हो जाएं। बच्चे उनकी सारी चिन्ताओं का केन्द्र थे। एक बार सिनसिनाती में हैज़े का प्रकोप हुआ। श्रीमती स्टो का एक बच्चा भी जाता रहा। पति उस समय स्वास्थ्य-सुधार के लिए प्रवास पर थे। सारा दुःख और कार्यभार अकेली श्रीमती स्टो पर था। एक पुत्र का मृत्यु- शोक, सबसे छोटा गोद में और घर का सारा कामकाज···इसी सबके बीच उनकी अमर पुस्तक की रचना हुई। पुस्तक के फार्म जब छप-छप कर आते थे तो पहले उन्हें सुनने वाले मात्र उनके बच्चे ही थे। रात को सब बैठकर साथ पढ़ते और रोते। मातृ-हृदय की असीम करुणा से प्रसूत यह पुस्तक बाद में असंख्य पाठकों को रुलाने में समर्थ हुई।

बच्चों के प्रेम और कर्तव्य से श्रीमती स्टो अन्त तक बंधी रहीं। विश्व-ख्याति इसमें ज़रा भी बाधक नहीं बन सकी। उनका एक पुत्र कैप्टन फ्रेडरिक बीचर स्टो युद्ध में वीरता दिखाने पर घायल होकर घर लौटा तो मां ने पुत्र के स्वास्थ्य-लाभ और आराम के लिए फ्लोरिडा में एक कोठी खरीदी और वहीं उसके साथ उसकी सेवा में आरूढ़ हो गईं। पति तब तक रिटायर हो चुके थे और सुविधापूर्वक जीवनयापन की क्षमता उस पुस्तक ने प्रदान कर ही दी थी। सन् १८८६ में उनके पति का देहावसान हो गया। श्रीमती स्टो उसके दस वर्ष बाद तक जीवित रहीं और एकान्त-साधना में धार्मिक साध्वी-सा जीवन बिताती रहीं। १८९६ में ८५ वर्ष की आयु में उनका निधन हुआ। अण्डोवर नामक स्थान में पति की समाधि के पास ही उनकी समाधि बनी हुई है। यह समाधि आज भी अमेरिका के तीर्थस्थानों में से एक है।

नर्सिंग-सेवा की अग्रदूत

फ्लारेंस नाइटिंगेल

सन् १८५४। क्रीमिया युद्ध का समय। क्रीमिया के निकट एकटारी नामक स्थान। जंगल बियाबान में सम्राट सुलेमान का तीन सौ वर्ष से अधिक पुराना महल का एक खण्डहर। गन्दगी, चूहों, तिलचट्टों, झींगरों और खटमलों का साम्राज्य। इसी खण्डहर को दीवारों को पोत उसे सैनिक अस्पताल की बैरकों का रूप दे दिया गया था। इन बैरकों में क्रीमिया युद्ध के अभागे घायल सैनिक भेड़-बकरियों की तरह भरे थे। शल्य-चिकित्सा के वैज्ञानिक साधनों के अभाव में सड़ रहे ज़ख्म, बैरकों में गन्दगी का नरक और नर्सिंग-सेवा के नाम पर शून्य। 'दि टाइम्स' ने एक टिप्पणी लिखी, "क्या पूरे ब्रिटेन में कोई भी ऐसी महिला नहीं है जो इन दुःखी, मरणासन्न मानवों को नर्सिंग-सेवा प्रदान कर सके?"

फ्लारेंस नाइटिंगेल को यह टिप्पणी एक चुनौती के रूप में मिली। सेवा की प्यास लिए इधर से उधर भटकती आत्मा को इससे अच्छा अवसर और कौन-सा

मिलता ? उसने तुरन्त क्रीमिया के रोगी व घायल सैनिकों की सहायतार्थ नर्सों का एक दल तैयार करने का बीड़ा उठा लिया। 'दि टाइम्स' ने एक अपील निकाल सहायता-कोष में चन्दा जमा करना शुरू किया। अनेक लोग इस पुण्य-कार्य में भागीदार होने के लिए आगे आए। कुछ ही दिनों में एक विशाल धनराशि एकत्रित हो गई और फ्लारेंस नाइटिंगेल नर्सों के एक दल के साथ क्रीमिया युद्ध-स्थल पर स्थित सैनिक अस्पताल के लिए रवाना हो गईं।

सैकड़ों रोगियों-घायलों की देखभाल करना कोई आसान काम न था। फिर साधनों का अभाव और गन्दगी अलग समस्या थी। नाइटिंगेल ने अनुभव किया; केवल करुणा और सहानुभूति जताकर ही वे उनका दुःख दूर नहीं कर सकतीं। इसके लिए वैज्ञानिक साधन और विधियां भी अपनानी होंगी ! सबसे पहले उनके दल ने सफाई की ओर ध्यान दिया। कच्ची फर्शों-दीवारों की मरम्मत कराई गई। शौचालयों के सीवरों को ठीक कराया गया व फिर उन्हें जन्तुनाशक दवाओं से धोया गया। जुएं, कीड़े-मकोड़े, खटमल आदि नष्ट करने और रोगियों के मल-मूत्र की उचित व्यवस्था करने के बाद उन्होंने दूसरी बातों की ओर ध्यान दिया।

इसकें पूर्व युद्ध-स्थल में नर्सिंग-सेवा की किसीने कल्पना भी न की थी। एक तो पहला नर्सिंग-दल; दूसरे, अधिकारियों के काम में हस्तक्षेप। उन्हें क्यों सहन होता ! नाइटिंगेल को पग-पग पर अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। नवीन विधियों या प्रयोगों को सेना के डाक्टर तक सन्देह की दृष्टि से देखते थे। नर्सों को देखकर वे चिढ़ते, उनके काम में रुकावट डालते और उनकी कटु आलोचनाएं करते। पर नाइटिंगेल की प्रेरणा से किसी भी नर्स ने धीरज नहीं खोया। वे अपने काम में उसी तरह लगी रहीं। सफलता निश्चित थी। फरवरी से जून तक के चार-पांच महीनों के अल्प समय में मृत्यु संख्या ४२७ प्रति हज़ार से घट कर २२ प्रति हज़ार रह गई। आलोचकों का मुंह स्वतः ही बन्द हो गया

काम सभी नर्सें करती थीं पर मुख्य प्रेरणा नाइटिंगेल की ही थी। जब सबका आराम का समय होता वे तब भी काम में व्यस्त दिखाई देतीं। दल की नेत्री होने पर भी उनका काम निर्देशन व व्यवस्था तक सीमित न था। इसके साथ प्रशिक्षण प्रेरणा और व्यक्तिगत आदर्श भी थे। गन्दे से गन्दा काम वे अपने हाथ से करतीं और किसी भी समय पुकार पर उपस्थित रहतीं। 'दि टाइम्स' ने काम देखा और रिपोर्ट दी—"हर रात्रि को जब उस विस्तृत क्षेत्र में गहन अंधकार और निस्तब्धता का साम्राज्य होता और डाक्टर लोग गहन निद्रा में निमग्न होते, फ्लारेंस नाइटिंगेल को बिला नागा, हाथों में एक छोटा-सा लैम्प लिए बिस्तर से

बिस्तर तक दौरा करते और कराहते रोगियों का हालचाल पूछते देखा जा सकता है।"

'दि टाइम्स' में छपी मेकडोनाल्ड की इस टिप्पणी पर व्यापक जन-प्रतिक्रिया हुई। 'लेडी आफ दी लैम्प' या 'दीपक की देवी' नाम से नाइटिंगेल की यशोगाथाएं संसार-भर के पत्रों में छपने लगीं। उनके सम्मान में ढेरों कविताएं, लेख और अग्रलेख लिखे गए। हर जगह से उनके चित्रों व मूर्तियों की मांग होने लगी। रेस के घोड़ों, जहाज़ों, भवनों और नवजात शिशुओं तक के नाम उनके नाम पर रखे जाने लगे। एक 'नाइटिंगेल कोष' स्थापित कर उनकी सेवाओं का अभिनन्दन किया गया। नाइटिंगेल ने इस कोष की ४८ हज़ार पौंड की राशि भी नर्सिंग-सेवाओं के विकास-सुधार पर खर्च कर दी।

नर्सिंग-प्रशिक्षण और सेवाओं पर आज हर राज्य में पर्याप्त खर्च किया जा रहा है। नर्सिंग में बी० एस-सी० व एम० एस-सी० डिग्री लेना भी आम बात हो गई है। पर यह योजनाबद्ध विकास इसी शताब्दी की देन है। १९ वीं शताब्दी में किसी सम्भ्रान्त परिवार की नारी को अस्पतालों में जाकर रोगियों की सेवा करते देखना अच्छा नहीं समझा जाता था। कहीं-कहीं तो आज भी नहीं समझा जाता है। सेवा की इस पवित्र परम्परा को स्थापित करने का श्रेय पाकर फ्लारेंस नाइटिंगेल का नाम विश्व नर्सिंग इतिहास में अमर हो गया है।

फ्लारेंस नाइटिंगेल का जन्म १२ मई, सन् १८२० को इंग्लैण्ड के एक सम्पन्न और सुशिक्षित परिवार में हुआ। श्री एवं श्रीमती विलियम नाइटिंगेल की दो लड़कियों में से छोटी यह बालिका स्वभाव से कोमल और अत्यन्त भावुक थी। अपार सम्पत्ति की स्वामिनी होने के कारण फ्लारेंस की मां और बड़ी बहन दोनों जीवन के सुखों और चमक-दमक के प्रति जागरूक थीं। वर्ष में दो महीने वे अपने गांव के घर में व शेष लन्दन में बितातीं। पार्टियां, बालडांसों, मित्रों से भरा रंगीन जीवन, सभी सुविधाएं, पर फ्लारेंस इस सबसे सन्तुष्ट न थी। उसे ऐसी सुविधापूर्ण सामान्य दिनचर्या से चिढ़ थी। वह जीवन में कुछ बनना व करना चाहती थी। बचपन से ही व्यक्तिगत नोट्स लिखती। डायरी में अपने वेतरतीब विचार अंकित करती रहती। उसकी डायरी और मित्रों को लिखे पत्रों से उसके आन्तरिक जीवन की असन्तुष्टि की झलक मिलती थी।

सुन्दरी, साहसी, विद्रोही इस असाधारण लड़की ने ७ फरवरी, १८३७ को अपनी डायरी में एक नोट लिखा—"ईश्वर ने आज मुझसे बात की और मुझे अपनी सेवा में बुलाया।" मां और बहन ने सुना तो उसे पागल कहकर हंस दीं। सहेलियां भी प्रायः उसका मजाक उड़ातीं कि

हंसते-खेलते, घुड़सवारी करते, तैरते, पिकनिक मनाते और डांस पार्टियों आदि में वह व्यस्त होने के बजाय गम्भीर क्यों हो जाती है? अपनी गम्भीर प्रवृत्ति

के अनुरूप फ्लारेंस ने ग्रीक भाषा और दर्शन का अध्ययन शुरू किया पर शीघ्र ही उससे भी ऊब उठी। अपना निकम्मा जीवन उसे असफल और ईश्वर के प्रति झूठा लगता। मानवीय जीवन के दुख, कृत्रिमता व क्षणभंगुरता को देख ईश्वरीय उद्देश्य से विरक्ति उसे सहन न थी। दिन-रात सोचती, क्या करूं? कैसे इन सब बन्धनों से मुक्त हो स्वयं को मानव-जाति के सेवाकार्य में समर्पित करूं?

माता-पिता का घोर विरोध और अपने सही लक्ष्य को पहचानने में असमर्थता —इन दोनों पाटों के बीच वह बुरी तरह पिस रही थी। अवसर की खोज जारी थी। तभी समीप के ब्राइलैण्ड होम के लार्ड पार्मटसन के लड़के रिचार्ड मोकस्टन मिलन्स से (जो बाद में कवियों और मानववादियों का संरक्षक कहलाया) उसकी मुलाकात हुई, जो लगभग प्रेम में भी बदल गई। पर मिलन्स का प्रेम कोई साधारण व्यक्तिगत प्रेम न था। वह अपने आसपास के सभी मनुष्यों से भाई-बहन की तरह प्रेम करता था। इस प्रेम ने फ्लारेंस के जीवन को नया मोड़ दिया। भावुक और कोमलहृदय फ्लारेंस समस्त दुःखी मानवों से प्रेम करने लगी। मिलन्स से प्रेरणा पा उसने ली हर्स्ट के ग्रामीणों की, जो बेकारी, बीमारी, भूख से घिरे थे, सेवा में स्वयं को खपा दिया। मां के तीव्र विरोध के बावजूद वह उन निराश व्यक्तियों के जीवन में आशा का संचार करने वाले कार्यों में लगी रही।

एक दिन उसने एक अमेरिकन मानववादी दार्शनिक डा० वार्ड होवी को पत्र लिखकर पूछा, "क्या एक सम्भ्रान्त अंग्रेज महिला के लिए अस्पताल में मरीजों की सेवा का काम गलत होगा? यदि कैथोलिक सिस्टर्स यह काम कर सकती हैं तो मैं क्यों नहीं?" उस समय इंग्लैण्ड में अस्पतालों की दशा बहुत खराब थी। गन्दगी, दुर्व्यवस्था और लापरवाही के शिकार मरीज अपने दुःखों को डुबोने के लिए शराब का ही सहारा खोजते थे। पर रूढ़िवादी इंग्लैण्ड में किसी संभ्रान्त महिला का ऐसे काम के बारे में सोचना एक असाधारण बात थी। इसलिए फ्लारेंस नाइटिंगेल के पत्र से डा० वार्ड होवी बेहद प्रसन्न हुए। उनके उत्साहवर्द्धक उत्तर ने ही फ्लारेंस की राह खोल दी।

उसे सेवा का ईश्वरीय आदेश मिले ७ वर्ष बीत चुके थे और इस बीच बाधाओं के कारण वह केवल योजनाएं ही बनाती रह गई थी। इस पत्र से प्रोत्साहन पाकर उसने घर छोड़ दिया और अपना शेष सारा जीवन अस्पताल की सेवा में लगाने का निश्चय कर लिया।

फ्लारेंस ने माता-पिता से नर्सिंग प्रशिक्षण की अनुमति मांगी, पर नहीं मिली। इस बीच विवाह के प्रस्ताव ठुकराने और आजीवन कुमारी रहने के व्रत के कारण भी माता-पिता उससे अप्रसन्न थे। उन्होंने वन्धन और कड़े कर दिए। पर ईश्वरीय आदेश का पालन न कर पाने के कारण वह अपने को दोषी समझती थी। स्वयं को क्षमा न कर पाई, इसलिए उसने माता-पिता की उपेक्षा कर दी। उन्हीं दिनों अज्ञात नाम से फ्लारेंस ने लड़कियों पर माता-पिता के इस अनुचित नियन्त्रण के विरुद्ध एक कड़ा लेख भी लिखा। जर्मनी में पास्टर फ्लीइनर नामक पादरी द्वारा स्थापित 'केजरवर्थ' आधुनिक नर्सिंग की शिक्षा प्रदान करने वाला संसार का प्रथम स्कूल था। १८५० में फ्लारेंस नाइटिंगेल ने वहां रहकर चार महीने तक नर्सिंग की विधिवत् ट्रेनिंग ली।

फिर १८५३ में सिस्टर्स आफ चेरिटी कान्वेंट में रहकर उन्होंने फ्रांस के अस्पतालों, स्वास्थ्य-सेवाओं और नर्सिंग-सेवाओं का अध्ययन कर इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी व आंकड़े इकट्ठे किए। उसके बाद स्वदेश लौटकर एक 'रोगी महिला सदन' की स्थापना की।

१८५४ में जब लन्दन में हैज़ा फैला तो कुछ स्वयंसेवी महिलाओं को साथ लेकर फ्लारेंस ने तेज़ी से सेवा-कार्य प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने इस अवसर पर नर्सों की कमी को अनुभव करते हुए 'दि टाइम्स' में लिखा "यहां सिस्टर्स आफ चेरिटी क्यों नहीं है?" युद्ध सचिव श्री सिडने हर्बर्ट ने इसी लेख से प्रभावित हो युद्ध स्थल पर सैनिकों की सेवा के लिए फ्लारेंस नाइटिंगेल पर विश्वास कर लिया था। फिर १८५४ के युद्ध के वाद तो नाइटिंगेल का नाम विश्व-भर की ज़ुबान पर चढ़ चुका था।

३० मार्च, १८५६ को क्रीमिया का युद्ध समाप्त हो गया। इंग्लैंड लौटकर नाइटिंगेल ने अपने नाम के कोष में जमा धनराशि का उपयोग कर नर्सिंग सेवा के प्रशिक्षण, संगठन आदि पर ध्यान दिया। सेंट थामस अस्पताल में एक नर्सिंग-प्रशिक्षण स्कूल खोला गया। वहीं नर्सों के रहने के लिए क्वार्टर भी बनवाए गए। इंग्लैंड में अपने ढंग का यह पहला प्रयोग था। यहां से प्रशिक्षित हो नर्सें इंग्लैण्ड के सभी स्थानों में फैलने लगीं और कुछ प्रशिक्षण-कार्य संभालने के लिए देश से बाहर भी जाने लगीं। इस तरह फ्लारेंस नाइटिंगेल का प्रभाव व नाम ब्रिटेन से बाहर निकलकर पूरे विश्व में अपनी सुगन्धि बिखेरने लगा।

नर्सिंग कार्य को एक सुसंगठित व्यवस्था का रूप देने वाली अग्रणी महिला के नाते मानवता की इस पुजारिन को आज एक शताब्दी बाद भी उसी रूप में याद किया जाता है। फ्लारेंस नाइटिंगेल नाम ही 'सेवा के पर्याय' के रूप में

हमेशा-हमेशा के लिए स्थापित हो गया है। जिन माता-पिता ने अपनी बेटी को कामों में संलग्न रहने के कारण कभी क्षमा नहीं किया था, उन्होंने भी बाद में उसे जोन आफ आर्क के समान 'पवित्र देवी' कहकर उसके नाम एक निश्चित धन-राशि जमा कर दी कि अपने मिशन के लिए उसे कभी आर्थिक कठिनाई का सामना न करना पड़े। सेवा और त्याग की विजय का उदाहरण इससे बढ़कर क्या होगा !

भारत की एक फड़कती रग

रानी लक्ष्मीबाई

झांसी की रानी लक्ष्मीबाई का नाम भारत की एक फड़कती हुई रग है और विश्व की हर युवती के लिए एक प्रेरणा है, एक मिसाल है, कि मन-शरीर से कोमल होते हुए भी नारी हर स्थिति, हर संकट का मुकाबला करने में समर्थ है। यह शरणागतों के लिए दया, ममता की मूर्ति है तो शत्रुओं के लिए रणचण्डी भी है। बलिदान की भावना में तो वह पुरुष से कहीं आगे ही है।

'खूब लड़ी मर्दानी···' वाली कविता से इस देश का बच्चा-बच्चा परिचित है। रानी लक्ष्मीबाई पर अब तक सैकड़ों लेख, कविताएं, कथाएं, नाटक लिखे जा चुके हैं। फिल्म भी बनाई जा चुकी है। हर वर्ष १७ जून का दिन उनके बलिदान दिवस के रूप में मनाया जाता है। लाखों-करोड़ों भारतीय युवक, युवतियां, किशोर

ग्रौर बालक उनकी जीवनी पढ़ते ग्रौर उससे प्रेरणा पाते हैं। लक्ष्मीबाई की यशो-गाथा भारतीय इतिहास का वह उज्ज्वल पृष्ठ है जो युगों तक प्रेरणा-किरणें विकीर्ण करता रहेगा। इसका कारण है। हमारे इतिहास में ग्रनेक स्त्रियां ग्रपने सतीत्व, सेवापथ या ग्राध्यात्मिक ज्ञान के बल पर ग्रमर हुईं। पति-पुत्रों को प्रेरित कर रणक्षेत्र में भेजने वाली ग्रौर सतीत्व रक्षा के लिए चिता में जौहर करने वाली वीरांगनाएं भी हुईं। पर स्वयं सैनिक वेश में युद्ध ही नहीं, युद्ध का सफल नेतृत्व भी करने वाली रानी लक्ष्मीबाई ग्रपने-ग्रापमें एक विलक्षण मिसाल है।

१९ नवम्बर, १८३५ को वाराणसी में महाराष्ट्र के एक ब्राह्मण-परिवार में जन्म लेने वाली रानी लक्ष्मीबाई का जन्म नाम मणिकर्णिका था ग्रौर बचपन के प्यार का नाम मनूबाई। मनू चार वर्ष की ही थी कि मां की मृत्यु हो गई। पिता मोरोपन्त पुत्री के साथ बाजीराव पेशवा के पास बिठूर में रहते थे। बालिका मनू खूब चंचल ग्रौर चतुर थी। बाजीराव के दत्तक पुत्र नाना के साथ खेल-खेल में वह शस्त्रविद्या, मल्लविद्या ग्रौर घुड़सवारी सीख गई। मराठी, हिन्दी, संस्कृत भाषाएं सीखने के साथ शिकार ग्रौर वीरता के खेल खेलने का उसे बचपन से ही शौक था। फिर एक दिन उसने हाथी की सवारी का हठ किया। पिता ने सम-झाया, "बेटी, तेरे भाग्य में हाथी की सवारी नहीं है।" मनू तुरन्त तुनक उठी, "मेरे भाग्य में एक नहीं, सौ हाथी हैं। मैं महारानी बनूंगी।" पिता हैरान रह गए। तभी एक ज्योतिषी ने भी उसकी जन्मकुण्डली ग्रौर तेजस्वी ग्रांखें देखकर कहा, "मनू निश्चित ही महारानी बनेगी।" उस समय किसीको इन बातों पर विश्वास न ग्राया, पर १८४८ में जब झांसी के महाराज गंगाधर राव ने पुत्र के ग्रभाव में उन्हें ग्रपनी द्वितीय रानी बनाया तो भविष्यवाणी सच हो गई। लक्ष्मीबाई मनू का विवाह के बाद का रखा हुग्रा नाम है।

लक्ष्मीबाई के एक पुत्र को जन्म देने पर झांसी के राज्य भर में खुशियां मनाई गईं। पर बच्चा तीन महीने बाद ही चल बसा और गंगाधर राव पुत्रशोक से रोगशय्या पर पड़ गए। बीमारी ग्रसाध्य देखकर महाराजा ने ग्रानंद राव नाम के एक पांच वर्षीय बालक को गोद ले लिया। इसके कुछ दिन बाद ही महा-राजा चले गए। लक्ष्मीबाई ग्रठारह वर्ष की छोटी-सी आयु में ही विधवा हो गईं। उस समय भारत में ग्रंग्रज़ी राज्य बड़ी कूटनीति से अपनी जड़ें जमा रहा था। लार्ड डलहौज़ी गर्वनर जनरल थे। उन्होंने मेजर एलिस को भेजकर झांसी के राजकीय खजाने को सीलबंद कर दिया। गंगाधर राव के दत्तक पुत्र को ग्रवैध घोषित कर दिया ग्रौर रानी को ५००० रुपये वार्षिक पेंशन देकर राज-महल खाली करने का आदेश दे दिया। गंगाधरराव की ग्रंतिम वसीयत के

अनुसार, आनंद राव के वयस्क होने तक लक्ष्मीवाई राज्य की उत्तराधिकारिणी थीं।

रानी ने अपने शासन-अधिकार को बनाए रखने का काफी प्रयत्न किया, पर व्यर्थ। झांसी राज्य १८५४ को अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया गया। रानी विवश हो अपने पुत्र के साथ एक किराये के मकान में रहने लगीं। पर वे चुप बैठने वाली नारी नहीं थीं। अपने अधिकार के लिए पहले ब्रिटिश अधिकारियों से पत्र-व्यवहार चला। फिर अपने दावे को सिद्ध करने के लिए एक बंगाली तथा एक अंग्रेज़ वकील को ईस्ट इंडिया कम्पनी के पास लंदन भी भेजा गया। फिर भी फल कुछ न निकला तो रानी तिलमिला उठीं। उन्होंने अपने विश्वस्त साथियों को बुलाकर घोषणा की, "मैं चुप नहीं बैठूंगी, भले ही प्राण देने पड़ें।" रानी के प्रति न्याय के इस पक्ष का सभी ने समर्थन किया। और बस संघर्ष की शुरुआत हो गई।

अंग्रेज़ों ने सुना तो रानी की पेंशन बंद कर दी और राज्य की सेना में से उनके समर्थक सभी सैनिक व सेनाधिकारी चुनकर बाहर निकाल दिए। रानी ने अपने गहने बेचकर इन सभी सैनिकों को इकट्ठा किया और तैयारी शुरू कर दी। अंग्रेजों की ज्यादतियों के खिलाफ उन दिनों, हर जगह भारतीय सैनिकों में भीतर ही भीतर असंतोष पल रहा था। लगता था, किसी भी समय यह विस्फोट होगा। २५ अप्रैल, १८५६ को मेरठ छावनी में पहला विस्फोट हुआ और देखते-देखते फैलने लगा। तात्यां टोपे, नाना साहब, अंतिम मुगल बादशाह बहादुरशाह ज़फर आदि कई देशभक्त इस सैनिक विद्रोह के सूत्रधार बन गए थे। मौका देख, ४ जून १८५६ को विद्रोहियों ने झांसी के किले पर भी आक्रमण कर दिया। कुछ अंग्रेज़ मारे गए, कुछ भाग गए। प्रजा ने लक्ष्मीवाई को झांसी की रानी घोषित कर गद्दी पर बैठा दिया।

रानी ने शस्त्रविद्या तो खूब सीखी ही थी। शासनसूत्र संभालते ही पहला काम उन्होंने किया, झांसी के लिए सैनिकों और शस्त्रास्त्र की सदृढ़ व्यवस्था। इसके बाद उन्होंने प्रजाहित के कार्यों की शुरुआत की ही थी कि विपत्ति सिर पर आ खड़ी हुई। गंगाधर राव के एक संबंधी ने अंग्रेज़ों के हटते ही अपना दावा लेकर झांसी पर आक्रमण कर दिया। उसे परास्त किया ही था कि ओरछा का दीवान नत्थेखां बीस हज़ार सैनिकों के साथ चढ़ आया। रानी के पास इतनी तैयारी और रणकौशल था कि नत्थेखां को भी मुंह की खानी पड़ी। पराजित नत्थेखां ने अंग्रेज़ शासकों की शरण ली और उन्हें भड़काया कि सारे सैनिक विद्रोह का संचालन झांसी से हो रहा है। अंग्रेज़ अधिकारियों के मन में भी पूर्व

पराजय का मलाल था। उन्होंने सोचा, मध्य भारत में सैनिक विद्रोह दबाने के लिए झांसी की रानी की शक्ति का दमन करना होगा। जनरल ह्यूरोज़ अपनी अंग्रेज़ सेना के साथ झांसी पर अधिकार करने के लिए रवाना कर दिया गया। रानी को समाचार मिला तो उन्होंने भी तैयारी शुरू कर दी। युद्ध ठन गया।

रानी लक्ष्मीबाई इतनी रणकुशल थीं कि उन्होंने आसपास का सारा इलाका वीरान कर दिया ताकि अंग्रेज़ी सेना को अन्न-पानी न मिल सके। पर अपने ही पड़ोसियों ने उनका साथ नहीं दिया। ग्वालियर और टीकमगढ़ के महाराजाओं ने अंग्रेज़ी सेना के लिए सामान मुहैया कर दिया, जिससे वह आगे बढ़ आई। झांसी के किले की तोपें आग उगलने लगीं। प्रवेशद्वार के प्रबंधक खुदाबख्श और तोपखाने के अधिकारी गुलामगौस खां ने जान की बाज़ी लगा दी। बारह दिन तक भीषण संग्राम चला। रानी दिन-रात एक कर युद्ध का संचालन करती रहीं। अंग्रेज़ी सेना संख्या में ज़्यादा थी। रानी की किलेबंदी अच्छी थी। किसी भी पक्ष की हार-जीत होते न देख अंग्रेज़ी सेना झांसी नगर में घुसकर लूटपाट और आगज़नी करने लगी। प्रजा पर यह संकट देख रानी सोच में पड़ गईं। उन्होंने तात्यां टोपे को पत्र भेजकर सहायता के लिए बुला भेजा। पर तात्यां की सेना को अंग्रेज़ों ने बीच में ही रोक लिया। इधर कई मोर्चे टूटने लगे। हर टूटते मोर्चे पर पहुंच रानी स्वयं उसे संभालती थीं। तभी ह्यूरोज़ ने किले की घेराबंदी कर भयानक गोलाबारी शुरू कर दी। किले की तोपें उसका मुंह-तोड़ उत्तर दे रही थीं कि इसी बीच अंग्रेज़ों की 'फूट डालो' नीति काम कर गई। दूला जी नामक एक विश्वासघाती से उन्हें बारूदखाने का पता चल गया। फिर क्या था। बारूदखाने पर तोप के गोले बरसे और सैकड़ों वीर सिपाही हवा में उड़ गए। खुदाबख्श और गुलामगौस खां मारे गए। नगर से भीषण मारकाट की खबरें आ रही थीं। रानी के लिए अब किले से बाहर निकलने के सिवाय कोई चारा न रहा। उन्होंने घोड़े की पीठ पर पुत्र को बांधा। लगाम मुंह में थामी और दोनों हाथों से तलवार चलाती, भीड़ चीरती बाहर निकल गईं। अंग्रेज़ों ने पकड़ने के लिए पीछा किया, पर सफल नहीं हुए।

स्वतंत्रता-युद्ध को आगे चलाने के लिए रानी का जीवन बचाना आवश्यक था, इसलिए सरदारों ने उन्हें कालपी की ओर रवाना कर दिया। लेफ्टिनेंट वाकर ने अपनी टुकड़ी के साथ रानी को उनके बारह साथियों समेत राह में आ घेरा, लेकिन वीर रानी ने तलवार के एक ही वार से वाकर को मार गिराया। उसके सैनिक भाग खड़े हुए। कालपी में नाना साहब के भाई रावसाहब ने उन्हें सहायता

का वचन दिया। पेशवाओं के नेतृत्व में आसपास के राजा संगठित होने लगे।

ह्यूरोज़ सेना लेकर कालपी की ओर बढ़ रहा था। उसे किले तक पहुंचने के पहले ही रोक लिया गया। कोंच के पास युद्ध शुरू हो गया। इस समय यदि युद्ध-संचालन व्यवस्था रानी को सौंपी जाती तो जीत निश्चित थी, पर राव-साहब ने एक नारी की अधीनता में काम करने में अपना अपमान समझा। रानी को केवल २५० सैनिकों के साथ एक ओर की रक्षा-पंक्ति दे दी गई। राव साहब ने पहले तो अंग्रेज़ सेना को उखाड़ा, फिर उनके ऊंट तोपखाने के आगे स्वयं उखड़ गए। रानी को किले में आश्रय लेना पड़ा। किला घिर जाने पर वे वहां से भी उसी तरह दोनों हाथों से तलवार चलाती निकल पड़ीं, जैसे कि झांसी के किले से निकली थीं।

इसके बाद लक्ष्मीबाई और रावसाहब ने ग्वालियर से २६ मील दूर गोपाल-पुर में डेरा डाला। पर यहां मोर्चा बनाना कठिन था। उन्होंने ग्वालियर के महाराजा सिंधिया और बांदा के नवाब को अपने साथ मिलाने का प्रयत्न किया, पर वे नहीं माने। अब यदि ग्वालियर का किला अधिकार में न हो तो अंग्रेज़ों से लड़ना कठिन था। इसलिए रानी सिंधिया के तोपखाने पर टूट पड़ीं। दूसरी ओर से तात्यां टोपे ने भी आक्रमण कर दिया था। सिंधिया की सेना हार गई। महाराजा सिंधिया भाग खड़ा हुआ और ग्वालियर के अधिकांश स्वतंत्रता-प्रेमी सैनिक इन स्वतंत्रता-संग्रामियों के साथ हो गए। नाना साहब पेशवा बने। रावसाहब उनके प्रतिनिधि। जीत की खुशी में रावसाहब की सेना राग-रंग में डूब गई। लक्ष्मीबाई सजग थीं। बार-बार आने वाले खतरे के प्रति चेतावनी दे रही थीं, पर उनकी बात का कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा था। संकट देख रानी ने स्वयं ही प्रबंध किया। ग्वालियर के सभी मार्गों पर मोर्चाबंदी की। मर्दाने वेश में अपनी दो सहेलियों—काशी, मंदरा और कुछ अंगरक्षकों के साथ पूर्वीय प्रवेशद्वार पर स्वयं तैनात हो गईं।

यहीं ह्यूरोज़ की सेना के साथ उनका अंतिम घमासान युद्ध हुआ। रानी की व्यूह-रचना सुदृढ़ थी, अंग्रेज़ी सेना मे साधनों और अनुशासन की शक्ति थी। पीछे से वही ऊंट-तोपखाना पहुंचने पर भयंकर जमाव के बावजूद रानी की सेना के पांव उखड़ने लगे। पर ज्यों ही घूमकर रानी ललकारतीं, सेना में नई स्फूर्ति दौड़ जाती। धरती लहू से लाल हो गई। दो दिन के भयंकर युद्ध के बाद भी जब रानी की व्यूह-रचना नहीं टूटी तो कूटनीतिज्ञ अंग्रेज़ों ने रानी को जीत का मौका देकर रावसाहब की ओर हमला कर दिया। रावसाहब इस बार भी संभाल न पाए। उनके मोर्चे टूटते देख रानी आगे बढ़ीं, पर अंग्रेज़ी सेना में घिर गईं।

उनके अधिकांश सैनिक मारे गए। घोड़ा भी क्षत-विक्षत हो गिर पड़ा। फिर भी रानी घुटने टेक देतीं तो इतिहास में उनका नाम अमर कैसे होता! फुर्ती से उन्होंने घोड़ा बदला, लगाम मुंह में थामी और दोनों हाथों से उसी तरह तलवार चलाती निकल भागीं। पीछे के एक वार से वे बुरी तरह जख्मी हो गई थीं, फिर भी अंतिम दम तक जूझती रही थीं। जिस अंग्रेज़ सैनिक ने पीछे से वार किया था, उसे उन्होंने घूमकर एक ही हाथ से ढेर कर दिया था। सिर पर भयंकर घाव था। एक आंख कटकर बाहर निकल आई थी। पर रानी फिर भी दोनों हाथों से तलवार चलाए जा रही थीं। इसी समय एक अंतिम वार में वे घोड़े से गिर पड़ीं।

यह १७ जून, १८५७ की संध्या थी। उसी १८५७ की, जो स्वतंत्रता के लिए लड़े गए पहले संग्राम के कारण एक ऐतिहासिक वर्ष है। यदि उस समय भारतीय राजाओं की परस्पर फूट न होती और लक्ष्मीबाई के कुछ साथी और पड़ोसी उनके साथ विश्वासघात न करते तो भारत एक सदी के लिए गुलाम न हो जाता। यह हार रानी की नहीं, भारतवासियों की फूट की हार थी। रानी लक्ष्मीबाई तो जान हथेली पर रखकर लड़ीं, खूब लड़ीं और अंतिम सांस तक लड़ीं। मरने के बाद शत्रु उनके शव तक को हाथ नहीं लगा सके। शत्रु सैनिकों के पास आने के पूर्व ही काशीबाई और रानी के एक सहायक ने उनका दाह-संस्कार कर दिया था। इस अंतिम वार में भी वे बच निकलतीं, यदि उनके अपने सधे घोड़े ने कुछ समय पूर्व उनका साथ न छोड़ दिया होता और नया घोड़ा नाला पार करते समय अड़ न गया होता। लगातार लड़ते-लड़ते भी जो शिथिल होकर नहीं गिरी थीं, अपने साथियों के विश्वासघात की चोट से भी नहीं गिरी थीं, अपने प्यारे घोड़े के बिछोह के बाद भी नहीं गिरी थीं, उन्हें इस नये घोड़े के कारण मौत के आगे घुटने टेक देने पड़े। पर शत्रु के आगे तो उनके शव ने भी घुटने नहीं टेके। इसलिए वे मरकर भी अजेय रहीं।

वीरांगना लक्ष्मीबाई की वीरता और शहादत की यह कहानी तब से हमें प्रेरणा देती आ रही है, आगे भी युगों तक देती रहेगी। उनका नाम भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास में ही नहीं, विश्व के वीर महिला-इतिहास में भी अमर है। विश्व की कई भाषाओं में कई बार यह कहानी लिखी गई है, आगे भी लिखी जाती रहेगी।

१६वीं सदी की एक महान् कवयित्री

तोरू दत्त

२१ वर्ष की आयु, कुल ४५ महीने का रचनाकाल और ख्याति के ध्वज ! तोरू दत्त १६वीं शताब्दी की एकमात्र ऐसी भारतीय कवयित्री हैं, जो इंगलैण्ड, फ्रांस और भारत में समान लोकप्रिय हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर, सरोजिनी नायडू और प्रसिद्ध बंगला लेखक सर रमेशचन्द्र दत्त जैसे साहित्यकारों ने जिनसे प्रेरणा पाई और अत्यल्प रचनाकाल की अपनी दो-तीन उपलब्धियों के बल पर ही जो सैफो और एमिली ब्रोंटी के समकक्ष कहलाईं।

तोरू दत्त एक असाधारण प्रतिभावाली महिला थीं। इक्कीस वर्ष की छोटी-सी आयु पाकर भी अंग्रेज़ी, फ्रेंच, बंगला और संस्कृत की भाषाविद् होने के साथ एक अद्भुत कवयित्री और सफल उपन्यासकार कहलाना कोई साधारण बात नहीं। हरिहरदास लिखित 'द लाइफ एण्ड लेटर्स आफ तोरू दत्त' में तथा कैम्ब्रिज की अपनी सहेली मिस मेरी मार्टिन को लिखे गए तोरू दत्त के पत्रों से उनकी बहुमुखी

प्रतिभा और व्यक्तित्व-सम्पन्नता की अच्छी झलक मिलती है।

रामबगान, कलकत्ता के प्रख्यात दत्त परिवार में श्री गोविन्दचन्द्र दत्त की वे सबसे छोटी लड़की थीं। श्री गोविन्दचन्द्र दत्त स्वयं एक अच्छे कवि और साहित्य-प्रेमी थे। इंग्लैंड से प्रकाशित 'दत्त फेमिली एलबम' में परिवार के अन्य कवि-सदस्यों के साथ उनकी कविताएं भी सुरक्षित हैं। ऐसे संस्कारी साहित्यिक परिवेश में तोरू दत्त का जन्म ४ मार्च, १८५६ को हुआ। तोरू ६ वर्ष की थी कि पिता ने कैथोलिक संस्कृति से प्रभावित हो ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। मां एक धार्मिक विचारों की साध्वी महिला थीं। एक ओर साहित्य-प्रेम, दूसरी ओर नैतिक आदर्श, माता-पिता के ये दोनों गुण तोरू में हस्तांतरित हुए। असाधारण प्रतिभा और अद्भुत स्मरण-शक्ति की धनी बालिका तोरू मां से सुनी आदर्शात्मक कथाओं और पिता द्वारा निर्देशित अध्ययन-मनन सभी को आत्मसात् करती जाती। उस समय की स्थिति के अनुसार उसे कोई विधिवत् स्कूली शिक्षा नहीं मिली, पर वह इतना पढ़ती थी कि उसे किताबों का कीड़ा कहा जाता था। भाई अबियूं और बहन अरू के साथ उसने घर पर प्राइवेट ट्यूटरों से पढ़ा, पिआनो सीखी, भारतीय-पश्चिमी संगीत भी सीखा, पर उसके मुख्य गुरु और साथी पिता ही थे। पिता ने भी अपनी सबसे छोटी बच्ची की जन्मजात प्रतिभा को पहचान लिया था और मांज-मांजकर निखारना शुरू कर दिया था। तोरू दत्त स्वयं लिखती हैं, "मैं नहीं जानती कि अपने पिता के बिना मैं क्या होती या बनती ? शायद तब मेरा नाम कोई न जानता।"

शायद उनका नाम तब भी कोई न जानता यदि, उनकी पहली और जीते-जी प्रकाशित एकमात्र पुस्तक कुछ प्रसिद्ध फ्रांसीसी और अंग्रेज़ी आलोचकों के हाथ न पड़ जाती। यदि 'गीतांजलि' पर नोबल पुरस्कार न प्राप्त होता तो रवीन्द्रनाथ टैगोर भारत और भारत से बाहर इतने न जाने जाते। अमृता शेरगिल को भी विदेशी प्रशंसा मिलने के बाद ही स्वदेश में पहचाना गया। तोरू दत्त के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। यद्यपि लेखन-कार्य उन्होंने भारत लौटकर हाथ में लिया और यहीं समाप्त किया, पर उनकी कृतियां विदेशी आलोचकों द्वारा समादृत होकर ही यहां जानी-मानी गईं। तोरू दत्त कुल चार ही कृतियां दे पाईं। एक उनके जीवनकाल में प्रकाशित हुई, तीन मृत्यु के बाद। पांचवीं (एक उपन्यास) अपूर्ण रह गई। और यही पूंजी उन्हें अमर कर गई।

तोरू दत्त का अंग्रेज़ी का ज्ञान और उसके माध्यम से यूरोपीय जीवन दर्शन, कला व सामाजिक रीति-रिवाज़ों का ज्ञान देखकर उनके पिता के अंग्रेज़ मित्र चकित रह जाते थे। १८६६ में चौदह वर्ष की आयु में शिक्षा के लिए इंग्लैण्ड

जाने के पूर्व ही उन्होंने 'पैराडाइज़ लास्ट' और शेक्सपियर के कई नाटक पढ़ लिए थे। फ्रेंच और जर्मन भी कुछ-कुछ सीख ली थी। इंग्लैंड में वे साढ़े तीन वर्ष रहीं और फ्रांस में कुछ महीने। इतने समय में इंग्लिश, फ्रेंच भाषाएं ही लोग अच्छी तरह नहीं सीख पाते, तोरू दत्त ने इन देशों के रहन-सहन, रीति-रिवाज़ों, चित्रकला, संगीत सभी का ज्ञान प्राप्त किया।

फ्रेंच उनकी रुचि की भाषा थी और फ्रांसीसी जन-जीवन का अध्ययन रुचि का विषय। पिता उनके लिए अच्छे से अच्छे अध्यापक जुटाते, गवर्नेस नियुक्त कर देते और इन कक्षाओं में स्वयं भी उनके सहपाठी बन जाते। प्रायः अपने घर पर वे प्रतिष्ठित विद्वानों और साहित्यकारों को निमन्त्रित करते, बेटी से उनका परिचय कराते और उनके साथ चर्चाओं में भाग लेने के लिए उसे प्रोत्साहित करते। वे तोरू को अपने साथ पुस्तकालयों, संग्रहालयों और सम्बन्धित ऐतिहासिक स्थलों पर भी ले जाते। इस तरह अध्ययन के साथ मंथन, मनन और पाचन से तोरू दत्त की प्रतिभा चमकती गई। कैम्ब्रिज में पढ़ते समय ही फ्रेंच कविताओं का अंग्रेज़ी में अनुवाद उन्होंने शुरू कर दिया था, जिनमें से कुछ को 'शीफ' तक में स्थान मिला।

चार वर्ष यूरोप में बिताकर तोरू दत्त १८७३ में परिवार के साथ कलकत्ता लौट आई थीं। पहले जमकर अध्ययन चला। भारत लौटने पर जमकर लेखन शुरू हो गया। इंग्लिश व फ्रेंच साहित्य के साथ अब बंगला और संस्कृत साहित्य का अध्ययन भी जुड़ गया था। प्रतिदिन स्वाध्याय की भूख शांत करने के बाद ही वे लेखन में जुटती थीं और जब जुटती थीं तो फिर वह सिलसिला घण्टों तक अटूट चलता था। अपनी पहली पुस्तक 'ए शीफ ग्लींड इन फ्रेंच फील्ड्स' को उन्होंने पारिवारिक कष्ट, कलकत्ता की उमस-भरी जलवायु और अपनी निरन्तर अस्वस्थता के बीच भी लगन से जुटकर पूरा किया। इसमें ७० फ्रांसीसी कवियों की १६० चुनी हुई कविताओं का अंग्रेज़ी पद्यानुवाद प्रस्तुत किया गया है। १८७६ में प्रकाशित इस पुस्तक ने फ्रांसीसी व अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध आलोचक एन्ड्रे थीरियट और एडमण्ड गोसे का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने तोरू दत्त की साहित्यिक प्रतिभा और लेखन क्षमता की भरपूर प्रशंसा की और पुस्तक का भारत, फ्रांस व इंग्लैण्ड में सभी जगह अच्छा स्वागत हुआ।

बाद में तोरू दत्त ने ६० नई कविताओं का एक और अनुवाद प्रस्तुत किया जो संग्रह रूप में उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक का भी सर्वत्र स्वागत हुआ। उनके पद्यानुवाद के प्रशंसकों में विक्टर ह्यूगो, ग्रैमांट, जैसे नाम भी हैं। एडमण्ड गोसे के अनुसार, 'तोरू दत्त अंग्रेज़ी से भी अच्छी फ्रेंच विद्वान थीं।

तोरू दत्त की रचनाएं मूलतः पीड़ा की रचनाएं हैं। उनकी मार्मिकता और गहरी संवेदनशीलता, कहते हैं, स्वयं उनके जीवन की निजी अनुभूतियों की उपज है जो स्वाभाविक ही है। पर उनमें केवल पीड़ा ही नहीं है, वे तरुण रोमान, आनन्दोन्माद, मानवीय संवेदना, पीड़ा, अकेलेपन का बोध, कोमल अनुभूतियों का मिश्रण लिए एक सार्वभौम जीवन की जीवन्त रचनाएं हैं।

उनके लिखे दो उपन्यासों में से एक अधूरा रह गया, दूसरा उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। उनकी मौलिक कविताओं का एक संकलन भी उनकी स्मृति में पिता ने बाद में ही प्रकाशित कराया। 'एंशिएंट बैलेड्स एण्ड लीजेंड्स आफ हिंदुस्तान' नामक इस संकलन की कविताएं भारतीय पौराणिक व लोक कथाओं पर आधारित हैं जो भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल पक्ष प्रस्तुत करती हैं। इनमें यम से लड़कर सावित्री की विजय, सीता की त्यागमय पीड़ा, लक्ष्मण, ध्रुव, प्रह्लाद, सत्यवान आदि के साहस, धैर्य, त्याग, भक्ति और सेवा की कहानियां काव्य के संवेदनशील स्पर्श से अपने पूरे प्रभाव के साथ मुखर हुई हैं। अंग्रेज़ी के माध्यम से भारतीय संस्कृति को जानने वाले देशी-विदेशी पाठकों के लिए यह एक अनुपम कृति है। स्वयं तोरू दत्त के शब्दों में, "ओह! कितनी मार्मिक और महान् हैं ये कहानियां!"

भारत लौटकर तोरू दत्त प्रायः अस्वस्थ ही चलती रहीं। इसी बीच कुल मिलाकर ४५ महीने के उनके शेष जीवनकाल और इतने ही लेखनकाल में उनकी यह उपलब्धि छोटी होकर भी कितनी महान् है! —उनकी रचनाओं को 'तरुण मन की प्रौढ़ अनुभूतिमय उच्च कोटि की रचनाएं' कहा गया है।

३० अगस्त, १८७७ को रामबगान, कलकत्ता वाले अपने घर में ही उनकी मृत्यु हो गई। यूरोप से लौटकर वे कहीं जा नहीं पाईं। दोबारा यूरोप भ्रमण और भारत-भर में घूमने की उनकी साध मन की मन में ही रह गई। एक उपन्यास अधूरा था और लेखन की ढेर-सी योजनाएं मन में पक रही थीं, जिनके लिए पूरा लम्बा जीवन भी कम पड़ता। फिर भी अध्ययन से तपा और आस्था से पगा व्यक्तित्व अन्तिम समय में डाक्टरों से कह रहा था, "आह! कितनी पीड़ा है, पर मैं शांति से मर रही हूं।" अमृता शेरगिल की मां की तरह तोरू दत्त के पिता भी (दोनों ने ही अपनी पुत्रियों को बनाने-संवारने के लिए क्या-क्या नहीं किया था। पर दोनों ने ही अपनी अकाल मृत्यु की घोषणा कर उनके सारे स्वप्नों और प्रयत्नों पर पानी फेर दिया था) फूटकर रो पड़े। इसके बाद उनकी कृतियों को प्रकाशित-प्रसारित करने के सिवाय वे और कर भी क्या सकते थे? लेकिन अमृता शेरगिल के समान ही तोरू दत्त को भी मृत्यूपरान्त जो मान-सम्मान मिला, उसे

देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि उनके सपने और प्रयत्न व्यर्थ गए। प्रतिभा की पहचान के लिए एक कृति भी पर्याप्त होती है—यदि उसे पहचान का अवसर मिल जाए। कहा जा सकता है कि ऐसी प्रतिभाएं कुछ और अधिक ज़िन्दा रहतीं तो···पर जो भी, जितना भी काम वे कर पाईं, उसकी पहचान हुई और खूब हुई, यह क्या कम है!
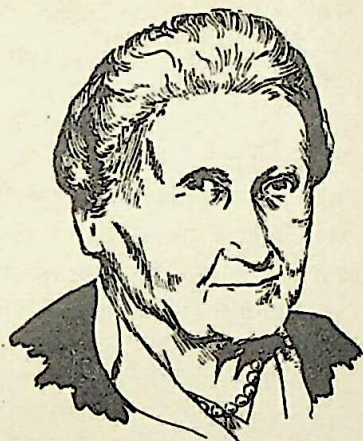
महान् बाल शिक्षाविद्

मेरिया मांटेसरी

आज अधिकांश शिक्षित माता-पिता समझने लगे हैं कि बालक जोर-जबर-दस्ती की चीज़ नहीं। अनुचित दण्ड और दबाव से उसका स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो जाता है। बालमन में पड़ी ग्रंथियों का उसके भावी जीवन—स्वभाव, चरित्र, संकल्प शक्ति, हीन या अहंभाव, कार्यपद्धति आदि सभी बातों पर लगभग अमिट प्रभाव पड़ता है। इसलिए उनपर किसी तरह की पाबन्दी लगाना या अपना शक्ति-परीक्षण आज़माना वयस्कों के लिए उचित नहीं है। एक अनधिकार चेष्टा है। बालक का अपना पृथक व्यक्तित्व है। एक छोटी-सी अपनी अलग निराली दुनिया है, जिसमें विचरण कर अपनी कल्पना-शक्ति का विकास करना उसका जन्मसिद्ध अधिकार है।

बालक के इस अधिकार को अब 'संयुक्त राष्ट्रसंघ बाल अधिकार घोषणापत्र' द्वारा वैधानिक ढंग से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी स्वीकार कर लिया गया है। सयस्त

बाल-शिक्षा आज इस मूलभूत सिद्धान्त पर केन्द्रित है कि बच्चों की स्वाभाविक वृत्तियों का दमन न कर उनके अन्तर्निहित गुणों को प्रदर्शन का और विकास का अवसर दिया जाना चाहिए। अभिभावकों और शिक्षकों का काम केवल इस अभिव्यक्ति द्वारा उनके मानसिक विकास में सहायता पहुंचाना ही है। दिशा-निर्देशन का अर्थ डंडे से हांककर अपनी मर्ज़ी की दिशा में मोड़ना नहीं, बल्कि यह है कि हम उनकी सहज प्रवृत्तियों का अध्ययन करें और उनके रुझान से दिशा-संकेत ग्रहण कर उन्हें उस ओर अग्रसर करने में सहायता करें।

सचमुच इस वैचारिक क्रांति ने मानव के भविष्य की दिशा ही बदल दी है। बालक आज मां-बाप के व्यक्तित्व के अंग के रूप में नहीं, पृथक् अस्तित्व और व्यक्तित्व के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुका है। शिक्षा और समाज-कल्याण की सभी योजनाओं का इस प्रेरक सिद्धान्त से ही क्रियान्वयन किया जा रहा है। यद्यपि अनेक कारणों से सम्पूर्ण बाल-शिक्षा अभी व्यवहार में इसे अपना नहीं पाई है पर मांटेसरी शिक्षण पद्धति नें अपने प्रयोगों और सफलताओं से इसकी महत्ता निर्विवाद रूप से स्थापित कर ही दी है।

इसी वैचारिक क्रांति की दृष्टा थीं, मेरिया मांटेसरी। बाल-शिक्षण की अंतर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त 'मांटेसरी पद्धति' उन्हींकी देन है। इस शिक्षण-पद्धति के मूलभूत सिद्धान्त हैं:

—धैर्य शिक्षक की कसौटी है। शिक्षक जागरूक अवलोकनकर्ता बनें। बालक की गतिविधियों का सूक्ष्म अध्ययन करके देखें कि वे क्या सीखना चाहते हैं? इसके बाद उनकी ग्रहण शक्ति को उत्तेजना प्रदानकर उन्हें विकास की दिशा दें।

—बालक की भीतरी शक्ति के प्रवाह को उसकी स्वतन्त्र हलचलों से देखा जा सकता है।

—शिक्षा की बुनियाद संस्कार हैं। पढ़ाई-लिखाई गौण है।

—अनुशासन का अर्थ आत्म-अनुशासन है।

—शिक्षण हो या कार्य, आत्मनिर्भरता आवश्यक है।

—शिक्षा न दण्ड से प्रेरित हो, न भय से, न लोभ से, न किसी पुरस्कार से, वह आत्मसन्तोष से ही प्रेरित होनी चाहिए।

—कार्य शक्ति के अवरुद्ध द्वार खोलने के लिए शिक्षा कार्य पर आधारित हो और कार्य की उपयोगिता का भान कराती हो।

ये सिद्धांत स्वयं में एक समूचा मानव-दर्शन प्रस्तुत करते हैं। प्रसिद्ध मनोविश्लेषक डा० सिगमंड फ्रायड के मत में, "यदि संसार के सारे बालक इस मांटेसरी

पद्धति से शिक्षित किए जाएं तो मनोविश्लेषकों की आवश्यकता ही न रह जाएगी।''

बाल-शिक्षण सम्बन्धी यह मानव-दर्शन इतने क्रांतिकारी रूप में सामने आया कि उसने विश्व को जैसे एक भ्रम-निद्रा से चौंकाकर जगा दिया। १९१२ में जब मेरिया की पहली पुस्तक 'मांटेसरी पद्धति' प्रकाशित हुई तो सभी देशों ने बढ़कर इस पद्धति का स्वागत किया। पर दुर्भाग्य से (जैसा कि सभी प्रवर्तकों के साथ प्रायः होता है) उनके अपने देश का तानाशाह मुसोलिनी उनके विरुद्ध हो गया। मेरिया को ६४ वर्ष की वृद्धावस्था में इटली छोड़ मार्सीलीना जाना पड़ा। तानाशाह शासक बाल मन में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का बीजारोपण क्योंकर सहन करने लगे! हिटलर ने भी मेरिया की पुस्तकों से उनका बुत बनवाकर सड़कों पर जलाया।

पर मेरिया मांटेसरी का अपने देश से बाहर जो सम्मान था, उसकी एक अभूतपूर्व घटना है: स्पेन का गृह युद्ध चल रहा था। एक दिन मैडम मांटेसरी बच्चों के साथ घर में थीं कि मकान एक सैनिक दस्ते से घिर गया। मौत लगभग निश्चित थी। मेरिया ने बच्चों को इकट्ठा किया और उनमें आत्मविश्वास भरना शुरू किया—सभी को मरना है, प्रार्थना करो कि ईश्वर हमारा मार्गदर्शन करे। भीतर प्रार्थना के बीच मौत की प्रतीक्षा हो रही थी और बाहर मकान की दीवार पर कमाण्डर लिख रहा था, "इस मकान का सम्मान करो। यह बच्चों की एक महान मित्र का मकान है।" और इस वाक्य को पढ़ सैनिकों ने उस मकान को ध्वस्त करने के बजाय उसकी सुरक्षा का प्रबन्ध कर दिया।

मेरिया मांटेसरी का जन्म ३१ अगस्त, १८७० को इटली के चियरावल्ली नामक स्थान में हुआ। माता-पिता की इकलौती और लाड़ली सन्तान—नाजुक मिज़ाज और सपनों में डूबी रहने वाली, कल्पनाओं में खोई-खोई-सी। इसी कारण बालिका पढ़ाई में कमज़ोर थी। पाठ याद न रख पाती और फेल हो जाती। माता-पिता निराश हो गए। उन्हें क्या पता था कि यही कल्पनाशील बालिका एक दिन महान शिक्षाविद् के रूप में विश्व-ख्याति अर्जित करेगी। एक बार तीव्र ज्वर से ग्रस्त हो गई। डाक्टरों ने खतरा बताया। माता-पिता रोने लगे। बालिका ने सचेष्ट मुस्कराकर कहा, "चिन्ता न करें। मरूंगी नहीं। मुझे अभी बहुत सारा काम करना है।" और सचमुच वह यह महान कार्य करने के लिए बच गई। बच ही नहीं गई, उसके बाद परीक्षाओं में भी सफल होने लगी। उसकी संकल्प शक्ति जो जाग गई थी।

प्रारम्भिक शिक्षण के बाद माता-पिता ने अध्यापिका बनने की सलाह दी।

१८वीं शताब्दी में एक लड़की के लिए इससे अधिक कैरियर सोचना एक असामान्य बात थी। पर मेरिया इंजीनियर बनना चाहती थी। वह लड़कों के साथ एक तकनीकी स्कूल में भर्ती हो गई। परिवार सुधारवादी था। लोकापवाद की परवाह न कर माता-पिता ने इजाज़त दे दी। प्राथमिक कक्षाओं के विपरीत अब स्कूल में उसकी प्रगति इतनी शानदार थी कि अध्यापक व सहपाठी दंग रह गए। सभी उसका सम्मान करते। पर मेरिया सन्तुष्ट न थी। इंजीनियरिंग स्कूल में अकेली लड़की होने से उसे अन्य विद्यार्थियों से पृथक् बैठना पड़ता और अनेक प्रतिबन्धों-नियन्त्रणों का सामना करना पड़ता। स्कूल जाने-आने के लिए भी कोई संरक्षक साथ रहता। मेरिया को यह घुटन पसन्द न थी। संभवतः इसीलिए वह विचार-स्वातन्त्र्य की पक्षपाती बन गई। वह चाहती थी, कुछ नया काम करना; कोई क्रान्तिकारी कदम उठाना, पर स्वयं में उलझ कर रह जाती। परिस्थितियां अनुकूल न थीं, बुद्धि कच्ची थी और अनुभव अधपका। फिर भी उसने एक निर्णय कर डाला—वह चिकित्सक बनेगी।

इटली में तब तक किसी लड़की ने मेडिकल कालेज में प्रवेश नहीं पाया था। पर वह अपने संकल्प पर दृढ़ थी। उसने गणित छोड़कर जीव-विज्ञान ले लिया। मेडिकल कालेज में प्रवेश के लिए प्रार्थना-पत्र भेजने पर रोम विश्वविद्यालय ने प्रवेश देने से इन्कार कर दिया। माता-पिता ने भी विरोध किया। पर संकल्प-शक्ति के आगे कौन-सी बाधा टिक सकती है? वह सफल हुई। योग्यता से छात्र-वृत्ति भी प्राप्त की और इस तरह इटली की प्रथम महिला डाक्टर कहलाई।

१८९६ में मेरिया ने रोम विश्वविद्यालय से एम० डी० की उपाधि प्राप्त की। इसके शीघ्र बाद बर्लिन में हुई 'फेमिनिस्ट कांफ्रेंस' में समस्त इटली की ओर से प्रतिनिधित्व किया। फिर लौटने पर रोम के 'मेंटल हास्पिटल' में सहायक डाक्टर के रूप में नियुक्त कर दी गईं। यहीं से उनके जीवन का महत्त्वपूर्ण मोड़ प्रारंभ होता है: अस्पताल में पागल रोगियों की दयनीय दशा देख उनका मन पसीज उठता—विशेषतः उन मन्दबुद्धि, अविकसित या बिगड़े बालकों को देखकर, जो पागल नहीं थे, पर उन्हें पागल करार दे दिया गया था। उनका आचरण असामान्य था। जब वे रोटी मांगते तो उनके मांगने का ढंग देखकर डाक्टर मेरिया को लगता, वे रोटी के नहीं, स्नेह के भूखे हैं। यदि उन्हें स्नेह-संरक्षण मिले, उन्हें समझने का प्रयत्न किया जाए और उन्हें सही ढंग से शिक्षित किया जाए तो उनमें से कई ठीक हो सकते हैं। और डाक्टर मेरिया के प्रयोग प्रारम्भ हो गए। प्रयोग चलते रहे, बढ़ते रहे और मेरिया चिकित्सिका से शिक्षिका के रूप में परिवर्तित होती गईं। प्रारम्भ में उन्होंने शिक्षिका बनने से इंकार किया था पर अन्ततः वही

पथ उन्हें चुनना पड़ा। उन्हें लगा, बस वह इसी के लिए बनी हैं और यही उनका इष्ट है।

अस्पताल के मुख्य अधिकारी को राज़ी कर उन्होंने मन्द-बुद्धि बालकों के लिए वहीं एक विद्यालय खोला। प्रयोग सफल रहा। बच्चे सुधरने लगे। कुछ तो पर्याप्त बुद्धिमान भी निकले। मेरिया के काम की सर्वत्र प्रशंसा होने लगी। उत्साहित हो उन्होंने प्रयोग को आगे बढ़ाया। सोचा, यदि अविकसित और बिगड़े बच्चे सही ढंग के शिक्षण से सुधर सकते हैं तो क्यों न सभी सामान्य बच्चों के लिए भी प्रारंभ से ही ऐसे सही शिक्षण की व्यवस्था की जाए कि वे बिगड़ें या पिछड़ें नहीं? उन्होंने देखा, बच्चे शान्ति से कभी नहीं बैठ सकते तो शिक्षक उनसे यह अपेक्षा क्यों करें कि वे शांति से बैठकर शिक्षक को सुनते रहें? उन्हें सक्रिय जीवन व्यतीत करने की, स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की अनुमति क्यों न दी जाए? और बस, खेल और कार्य के माध्यम से शिक्षण की नवीन पद्धति का श्रीगणेश हो गया।

प्रयोग और आगे बढ़ा। उन्होंने शिक्षकों के सम्मेलन बुलाए। उन्हें समझाया कि वे बच्चों को सुनाएं नहीं, उन्हें सुनें। उनके रुझान को देखें और उनकी अन्तर्निहित शक्तियों को विकसित करें। बाल-प्रवृत्तियों के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन के अपने निष्कर्षों और प्रयोगों की सफलता से उन्हें अवगत कराया। मानवता के नाम पर बच्चों के लिए मार्मिक अपीलें कीं और इस तरह धीरे-धीरे वातावरण बनता गया। १८९८ में ट्यूरिन में आयोजित शिक्षा-कान्फ्रेंस में जब उन्होंने अपने अनुभवों व प्रयोगों को शिक्षा-शास्त्रियों के सम्मुख रखा तो एकबारगी समूचे विश्व का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हो गया।

सन् १९०४ में मेरिया मांटेसरी रोम विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य करने लगी थीं। १९०६ में वह मज़दूर वर्ग के नेता टालमो से मिलीं और अपना विचार उनके सम्मुख रखा। उन दिनों इटली में मज़दूर बच्चे अशिक्षा और असभ्यता के अन्धकार में पड़े थे। मेरिया ने उनके लिए लारेंजो नामक गन्दी बस्ती में प्रथम बाल-निकेतन खोला। फिर कई बाल-गृह खुलते गए। 'अन्तर्राष्ट्रीय मांटेसरी शिक्षण संघ' बना और विश्व के सभी देशों में मांटेसरी पद्धति के स्कूल खुलने लगे। वह इटली के मज़दूर बच्चों और अविकसित बच्चों की परोपकारिणी मां ही न रहीं, विश्व-भर के बालकों की ममतामयी मां कहलाईं। आज संसार का हर शिक्षित व्यक्ति उनके नाम से परिचित है। उनके स्मरणमात्र से ममत्व जागता है, और श्रद्धा उमड़ आती है।

डा० मेरिया मांटेसरी अंग्रेज़ी, लैटिन, फ्रेंच, जर्मन, स्पेनिश आदि कई भाषाओं की ज्ञाता थीं और एक उच्च कोटि की विदुषी। उनकी लिखी पुस्तकें हैं:

'दि मांटेसरी मेथड,' 'दि चाइल्ड,' 'दि सीक्रेट आफ चाइल्ड,' 'दि मेथड आफ साइंटिफिक पेडालाजी,' 'एज्यूकेशन फार न्यू वर्ल्ड,' 'एज्यूकेशन इन दि एलीमेंटरी स्कूल्स,' 'पीस एण्ड एज्यूकेशन'। इन पुस्तकों का विश्व की अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। अपने भाषणों-लेखों और पुस्तकों द्वारा उन्होंने शिक्षा-शास्त्रियों की अनेक शंकाओं का समाधान किया है। अन्त तक वह इसी अनुसंधान कार्य में लगी रहीं। इस सिलसिले में उन्होंने अनेक देशों की यात्राएं कीं। नवंबर १९३० में भारत भी पधारी थीं।

अन्तिम दिनों में मैडम मांटेसरी को पिछड़े, अफ्रीकी देशों के बच्चों की चिंता सताने लगी थी। वह वहां जाना चाहती थीं, पर उनकी यह इच्छा पूरी न हो सकी। ६ मई १९५२ को ८१ वर्ष की आयु में उनका देहावसान हो गया। उनकी दृष्टि में तो उनका यह मिशन अभी अधूरा था। पर वह उन सौभाग्यशाली प्रवर्तकों में से एक थीं जो अपने जीवनकाल में ही अपने सपनों को पूरा—सर्वांगरूप में न सही—होते देख सकीं। वे एक असाधारण नारी थीं, जिनपर विश्व-भर के बालकों और उनकी माताओं को गर्व है।

सन् १९७० में उनकी जन्म शताब्दी को 'अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा वर्ष' घोषित कर उनकी स्मृति में एक विशेष डाक टिकट जारी किया गया था।

महान् वैज्ञानिक महिला

मैडम क्यूरी

सन् १९०३ में नोबेल पुरस्कार। फिर १९११ में दुबारा नोबेल पुरस्कार। पहली बार यद्यपि पुरस्कार के भागीदार तीन व्यक्ति थे : श्री हेनरी बेकरेल, श्री पियरे क्यूरी और श्रीमती मेरी क्यूरी, पर विज्ञान में नोबेल पुरस्कार पाने वाली वे संसार की प्रथम महिला थीं। फिर दूसरी बार जब उन्हें अकेले नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया तब भी दो बार यह पुरस्कार जीतने वाली विश्व में वे अकेली महिला ही थीं।

पहला पुरस्कार भौतिकी में था, दूसरा रसायन में। प्रथम पुरस्कार की घोषणा के साथ ही १९०३ में सम्पूर्ण विश्व का ध्यान मैडम क्यूरी की ओर आकर्षित हो गया था। संसार-भर के समाचारपत्रों ने उनके सम्मान में विशेषांक निकाले। लाखों फोटोग्राफरों ने उनके चित्र लिए। विभिन्न देशों के अनगिनत व्यक्तियों ने उनके हस्ताक्षर प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। स्थान-स्थान से

उन्हें भोजों और समारोहों में सम्मिलित होने के निमन्त्रण मिले। अनेक उपाधियों से उन्हें विभूषित किया गया। पर मैडम क्यूरी इस सबसे तटस्थ, एकांत जीवन की अभिलाषिणी थीं। उनके अनुसार यह उनके अनुसंधान-कार्य की समाप्ति नहीं, उसका प्रारंभ था। अपने कार्य को वे निरन्तर साधना द्वारा आगे बढ़ाना चाहती थीं। और यही उन्होंने किया भी। तभी तो विश्व को विज्ञान की दुर्लभ उपलब्धियां देकर, दोबारा नोबेल पुरस्कार से सम्मानित हो विश्व की महानतम वैज्ञानिक महिला कहलाईं—कहलाईं क्या, विज्ञान की खोजों के इतिहास में अपना नाम सदा के लिए अमर कर गईं। सारा संसार आज उन्हें 'रेडियम-महिला' के नाम से याद करता है।

मैडम क्यूरी की संसार को देन है: पोलोनियम, रेडियम और रेडियोधर्मी विकिरणों का ज्ञान। उनके अनुसंधानों में उनके पति भी शामिल थे। क्यूरी दम्पति ने बड़ी कठिनाइयां उठाकर, वर्षों कठोर परिश्रम करके यह सफलता प्राप्त की थी। पर मैडम क्यूरी का विवाहपूर्व आरंभिक जीवन तो और भी कठिन था। घोर आर्थिक संकटों और तकलीफों, बाधाओं का सामना करते हुए आगे बढ़कर उन्नति के शिखर को छू लेना कोई आसान काम नहीं। मेरी ने अपने साहस और अध्यवसाय से ही इस कठिन काम को आसान बनाया, भाग्य के किसी चमत्कार से नहीं।

मेरी स्क्लोदोव्स्की का जन्म एक निर्धन पोलिश परिवार में ७ नवम्बर, १८६७ को हुआ। परिवार खेतिहर था पर मेरी के जन्म के समय पिता वारसा के हाई स्कूल में भौतिकी के अध्यापक थे। पिता डाक्टर स्क्लोदोव्स्की विज्ञानवेत्ता के साथ एक अच्छे विद्वान भी थे। जर्मन, फ्रेंच, लैटिन, ग्रीक, इंग्लिश आदि कई भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित थे। फिर भी उनकी आर्थिक स्थिति दयनीय थी। कारण, ज़ारशाही के अत्याचार से अपनी मातृभूमि को मुक्त कराने की इच्छा रखनेवाले पोलिश क्रांतिकारियों से उनकी सहानुभूति थी, जिससे वे नौकरी से हाथ धो बैठे। धीरे-धीरे यह स्थिति आ गई कि अपने चार बच्चों के लिए खाना-कपड़ा जुटाना भी उनके लिए मुश्किल हो गया।

मेरी की मां आर्थिक तंगी और अधिक काम के बोझ से अपना स्वास्थ्य खोकर इस संसार से विदा हो गई। मेरी उस समय दस वर्ष की थी। कुशाग्रबुद्धि और प्रयोगात्मक विज्ञान के प्रति रुचि उसे पिता से विरासत में मिली थी। वह इस छोटी-सी आयु में ही घर के काम के साथ पिता की प्रयोगशाला में भी हाथ बंटाने लगी। ढीला-सा गाउन पहने, कंधे पर तौलिया लटकाए जब वह रोज़ प्रयोगशाला की सफाई करने पहुंच जाती, एक-एक यंत्र को झाड़-पोंछकर यथा-

स्थान सजाने से पूर्व उनका ध्यान से निरीक्षण करती तो पिता चकित रह जाते।

विज्ञानवेत्ता वृद्ध प्रोफेसर उन दिनों अपनी स्थिति से बहुत चिंतित और परेशान रहते थे। इसलिए अपनी प्रयोगशाला के प्रति भी कुछ उदासीन हो गए थे। मेरी ने अपनी लगन से उन्हें फिर उस ओर मोड़ दिया। पर उनके अन्तर में जो कोलाहल था, उसकी छाप बच्चों के सुकोमल मन पर पड़े बिना न रही। मेरी छोटी आयु में ही प्रौढ़ों की तरह गंभीरता से सोचने और ज़िम्मेदारी उठाने लगी थी।

धीरे-धीरे मेरी वैज्ञानिक प्रयोगों में भी रुचि लेने लगी। दोपहर बाद स्कूल से लौटकर अपने पिता के पास प्रयोगशाला में चली जाती और नवीन प्रयोगों को ध्यान से देखती। पिता ने पहले तो उसकी इस बढ़ती अभिरुचि को केवल बाल-औत्युक्य की संज्ञा दी, बाद में मेरी की लगन देखकर उसे नियमित रूप से विज्ञान की शिक्षा देने लगे।

विज्ञान के प्रति रुचि के अलावा अपनी मातृभूमि पोलैंड से गहरा प्रेम और रूढ़ियों से विद्रोह की भावना भी उसे पिता से विरासत रूप में मिली थी। ज़ार-शाही की क्रूरताओं के विरुद्ध पोलिशों में असंतोष दिनों दिन बढ़ रहा था। प्रति-शोध की भावना उग्ररूप धारण करती जा रही थी। क्रांतिकारियों की नित चोरी-छिपे सभाएं होती थीं और पिता के साथ मेरी भी उन सभाओं में भाग लेती थी। एक बार तो वह बंदी बना लिए जाने की स्थिति में भी आ गई थी। तब उसे वार्सा छोड़कर पेरिस चले जाना पड़ा, जहां घोर आर्थिक कठिनाई उठा-कर भी उसने अपना अध्ययन आगे बढ़ाया।

वार्सा के हाई स्कूल में अपनी विद्रोही प्रकृति के कारण वह अध्यापकों के क्रोध का शिकार हुई। पर शिक्षकों के असहयोग के बावजूद हाईस्कूल परीक्षा में प्रथम आई और स्वर्णपदक प्राप्त किया। परीक्षा के बाद पिता ने सोचा, कहीं अत्यधिक परिश्रम से यह भी मां की तरह बीमार न पड़ जाए, इसलिए उसे एक साल की छुट्टी मनाने गांव भेज दिया। इस अवधि में ही उसे खेतों में घूमने, खेलने और नाचने-गाने का अवसर मिला। उसके बाद तो मेरी क्यूरी का सारा जीवन तपस्या की एक कहानी है।

मेरी के वार्सा लौटने पर उनकी बड़ी बहन ब्रोन्धा ने सोर्खों (पेरिस) में जाकर डाक्टरी पढ़ने की इच्छा व्यक्त की। उस समय न तो कोई लड़की पोलैंड के किसी विश्वविद्यालय में पढ़ रही थी, न लड़कियों को विश्वविद्यालय में भेजने लायक घर की आर्थिक स्थिति ही थी। पर मेरी ने बहन की इच्छा देख, तुरन्त प्रस्ताव रखा, "तुम पेरिस जाकर पढ़ो, मैं गवर्नेस का काम ढूंढ़कर तुम्हें खर्च भेजूंगी।

डाक्टर बन जाने के बाद तुम मेरी मदद कर देना, फिर मैं पढ़ लूंगी।" इस तरह

ब्रोन्धा डाक्टरी पढ़ने चली गई और मेरी को एक मूर्ख और सख्त स्वभाव की महिला के यहां गवर्नेस बनना पड़ा। यहीं उस महिला के एक खुशमिज़ाज लड़के ने मेरी को पसंद कर लिया। दोनों में कुछ समय प्रेम-सम्बन्ध चला। पर मां ने एक गवर्नेस के साथ अपने लड़के की शादी करने से इन्कार कर दिया।

इस प्रथम प्यार में असफल होने पर मेरी के दिल को इतनी चोट लगी कि उन्होंने आजीवन अविवाहित रहकर स्वयं को अध्ययन और विज्ञान की खोज में लगाने का निश्चय किया। उन्होंने एक दूसरी जगह नौकरी कर ली और ब्रोन्धा को खर्च भेजती रहीं। साथ ही कंजूसी से पैसे बचाकर अपनी पढ़ाई भी फिर आरम्भ कर दी। मेरी के इस त्याग से लाभ उठाकर ब्रोन्धा एक दिन डाक्टर बन गई और उसने अपने एक साथी डाक्टर से विवाह कर लिया। इसके बाद वह मेरी की पढ़ाई का खर्च उठाने के लिए तैयार हो गई, पर मेरी ने इन्कार कर दिया। वे अपने पैरों पर खड़ी रहकर ही अपनी पढ़ाई करना चाहती थीं, चाहे इसके लिए उन्हें कितनी भी कीमत क्यों न चुकानी पड़े।

पढ़ने की अदम्य लालसा और आगे बढ़ने की साध लिए मेरी अध्ययन के लिए पेरिस पहुंच गईं। यहां वे एक गरीब बस्ती में गंदी, अंधेरी, सील-भरी कोठरी में रहती थीं, जिसमें हवा-रोशनी के लिए छत में एक छेद भर था। वे इतनी गरीब थीं कि प्राइवेट ट्यूशन और सोखों लेबोरेटरी में बोतलें धोने का काम करके भी मुश्किल से ही पढ़ाई का खर्च जुटा पातीं। अनेक बार उन्हें भूखे पेट या आधे पेट खाकर ही रह जाना पड़ता। उनके जीवन की एकरस कठोर साधना देखकर तथा लेबोरेटरी की बोतलें धोने में उनकी गहरी रुचि देखकर भौतिकी विज्ञान के अध्यक्ष ग्रेबियल लिपमैन और सुप्रसिद्ध गणितज्ञ हेनरी पायनकेअर का ध्यान इस अज्ञात लड़की की ओर आकर्षित हुआ।

अध्यापक और सहपाठी मेरी में रुचि लेने लगे थे और उनके बारे में जानकारी पाने के इच्छुक थे, पर मेरी थीं कि सदैव प्रथम पंक्ति में बैठतीं और लेक्चर समाप्त होते ही छाया की तरह गायब हो जातीं। सामाजिक उत्सवों में वे कभी शरीक नहीं हुईं। अल्पभाषिणी और कुशाग्रबुद्धि मेरी स्कोलोदोव्स्की उन दिनों बिल्कुल एक तपस्विनी की तरह जीवन बिताती थीं—अलग-थलग, एकान्त अध्ययन में लीन। सहपाठी अक्सर कहते सुने जाते, "लड़की इतनी मोहनी है, पर मुसीबत है किसीसे बोलती ही नहीं। वह तो बस किताबों और लेक्चरों में ही खोई रहती है।"

मेरी भौतिकी, रसायन, गणित, कविता, संगीत, ज्योतिष, विज्ञान—सभी

विषयों का एकसाथ अध्ययन कर रही थीं। पर सर्वाधिक रुचि उनकी वैज्ञानिक प्रयोगों में ही थी। उन्होंने घोषणा कर दी कि वे एकसाथ दो विषयों में विशेष अनुसंधान कर एम०एस-सी० करेंगी। विषय चुने गणित और भौतिकी। भौतिकी में वे प्रथम आईं, गणित में द्वितीय। तभी ग्रेबियल लिपमैन और हेनरी पायनकेअर ने कृपापूर्वक उनकी भेंट पेरिस के एक सुप्रसिद्ध डाक्टर के पुत्र पियरे क्यूरी से कराई।

पियरे क्यूरी भी मेरी की तरह विज्ञान को समर्पित थे। अठारह वर्ष की अवस्था में एम०एस-सी० पास कर लेने के बाद, वे अब पेरिस के एक भौतिकी व रसायन-संस्थान की प्रयोगशाला के अध्यक्ष थे। हर समय वैज्ञानिक खोजों में लगे रहते थे और स्त्री के लिए उनके जीवन में कोई स्थान न था। उन्होंने 'क्रिस्टलों' की संरचना में सिमिट्री के सिद्धांत को विकसित किया था। 'पाइजो-इलेक्ट्रिसिटी' की खोज की थी और विद्युत की सूक्ष्म मात्रा को मापने के लिए 'क्यूरी स्केल' तथा कुछ अन्य संवेदनशील उपकरण विकसित किए थे। थोड़े समय में ही अपनी खोजों के कारण पियरे क्यूरी फ्रांसीसी वैज्ञानिकों की प्रथम पंक्ति में प्रतिष्ठित हो गये। प्रोफेसरों ने ऐसे लगनवाले व्यक्ति के साथ मेरी जैसी धुनी युवती की भेंट जानबूझकर कराई थी और यह भेंट ऐतिहासिक प्रमाणित हुई।

दोनों ही उत्साही, प्रतिभावान, विज्ञानप्रेमी और पुरुषार्थी थे, इसलिए विज्ञान को समर्पित दो व्यक्तित्व धीरे-धीरे एक होकर पूरी तरह विज्ञान को समर्पित हो गए। एकदिन पियरे ने मेरी को लिखा, "विज्ञान व मानवता के हित में हमें एक हो जाना चाहिए।" मेरी ने आमंत्रण को स्वीकार किया और इस प्रकार १८९५ में छत्तीस वर्षीय पियरे क्यूरी और अट्ठाईस वर्षीया मेरी विवाह-सूत्र में बंधकर एक पथ के पथिक बन गए। शादी बहुत सादगी से सम्पन्न हुई और पति-पत्नी ने हनीमून साइकिलों पर घूमकर मनाया।

मेरी ने अपने अनुसंधान कार्य को आगे बढ़ाया, पति के अनुसंधान-कार्य में हाथ बंटाया और घर भी संभाला। दो पुत्रियों—आइरेन और ईव को जन्म देकर मां भी बनीं और विश्व की महान वैज्ञानिक भी। बड़ी लड़की आइरेन की भी विज्ञान में विशेष रुचि रही और आगे चलकर उसने भी १९३५ में रसायनशास्त्र में नोबेल पुरस्कार प्राप्त किया।

पति-पत्नी आरम्भ से ही एक-दूसरे के सहायक थे। दोनों मिलकर घर का और प्रयोगशाला का कार्य करते। पियरे झाड़ू लगाते तो मेरी खाना पका लेती। फिर दोनों प्रयोगशाला के काम में जुट जाते। विवाह के बाद, एक लड़की को जन्म देकर भी मेरी क्यूरी ने पढ़ाई जारी रखी और कठोर परिश्रम से डाक्टरेट

की उपाधि प्राप्त की। डाक्टरेट के लिए उन्हें टेम्पर्ड इस्पात के चुंबकीकरण पर मोनोग्राफ लिखने से 'फेलोशिप' मिल गई थी। पढ़ाई से बचा समय मेरी घर में व पति के अनुसंधान कार्य में लगाती थीं।

क्यूरी दम्पति बहुत कम लोगों से मिलते थे, बहुत कम बाहर निकलते थे कि उनके कार्य में व्याघात न हो। परस्पर वैज्ञानिक चर्चा में ही उन्हें सुख मिलता था या फिर कार्य से थककर अपनी बच्चियों के साथ मनोरंजन में। वे कभी घनघोर परिश्रम से कार्य में जुटे रहते, कभी गंभीर चर्चाओं में व्यस्त रह विज्ञान की गुत्थियों को सुलझाते रहते। एक टूटे-फूटे छप्पर के तले अपनी छोटी-सी घरेलू प्रयोगशाला में ही उनका जीवन सिमट गया था। बाहर की दुनिया की उन्हें विशेष खबर नहीं थी। इस गंभीर कर्ममय रूक्ष जीवन में उनके परस्पर प्यार की निश्छल निर्झरिणी बहती थी और दो नन्हीं चिड़ियाएं (बच्चियां) उसके किनारे किलोल करती थीं, तो फिर वह कर्म की रूक्षता उसके आनन्द में परिणत क्यों न होती! और किसी चीज़ की अपेक्षा उन्हें होती ही क्यों?

सन् १८६० से ही कुछ वैज्ञानिकों द्वारा वायु में कुछ ऐसे लवण-तत्त्वों की उपस्थिति बताई जा रही थी, जो विद्युत शक्ति से सम्पन्न थे। सर जोज़ेफ टामसन और कुछ अन्य अन्वेषकों ने इन किरणों में ऐसे निषेधात्मक विद्युत्कण पाए थे, जिनमें हाइड्रोजन एटम का हज़ारवां अंश था। सन् १८९६ में पियरे क्यूरी के एक सहयोगी हेनरी बेकरल को वैज्ञानिक परीक्षण के दौरान सहसा ज्ञात हुआ कि यूरेनियम से हरी, पीली, नीली दमक वाली अद्भुत प्रकाशमय रश्मियां फूटती हैं। मेरी क्यूरी और पियरे क्यूरी इस खोज से इतने प्रभावित हुए कि अपारदर्शी पदार्थों को भी भेद सकने वाली इन रहस्यमय किरणों के अनुसंधान कार्य को ही मेरी ने अपने डाक्टरेट का विषय चुना। यद्यपि डाक्टरेट की डिग्री मेरी को लेनी थी, पर पति-पत्नी दोनों ही इस अनुसंधान में जुट गए। बाद में मेरी क्यूरी ने ही इन किरणों को 'रेडियो एक्टीविटी' (रेडियोधर्मिता) का नाम दिया। यही नाम आज भी प्रचलित है। चूंकि इस अनुसंधान के प्रथम चरण का श्रेय हेनरी बेकरल को ही था इसलिए १९०३ का नोबेल पुरस्कार आधा हेनरी बेकरल व आधा क्यूरी दम्पति को प्रदान किया गया।

पियरे क्यूरी यद्यपि अपने निजी वैज्ञानिक अन्वेषणों में लगे थे, पर इस नये तत्त्व की खोज दोनों ने मिलकर की थी। बड़ा ही कठिन कार्य था। न ढंग की प्रयोगशाला थी, न उपकरण। सीलयुक्त ठंडे शेड में अपने पुराने उपकरणों से ही उन्होंने यूरेनियम की प्रकृति की जांच की और शीघ्र पता लगा लिया कि रहस्यमय किरणों का विकिरण यूरेनियम परमाणु का एक आधारभूत गुण है। इस

खोज से ही आगे चलकर मनुष्य परमाणु में निहित अनन्त शक्ति के विविध उपयोग सीख पाया।

फिर उन्होंने खोज को आगे बढ़ाया और पाया कि ये शक्तिशाली विकिरणें विकिरित करने का गुण यूरेनियम के अलावा अन्य तत्त्वों के परमाणुओं में भी था। इस विकिरण-क्षमता को ही मेरी क्यूरी ने रेडियोधर्मिता का नाम दिया, जिसने विज्ञान के क्षेत्र में नई क्रांति ला दी। तत्त्व के सूक्ष्मतम कण परमाणु के अखंडनीय होने की पूर्व धारणा बदल गई और वह खंडनीय हो गया।

अपने प्रयोगों में फिर उन्हें पता चला कि यूरेनियम और थोरियम के अशुद्ध लवण शुद्ध लवणों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हैं तो इन अशुद्धियों में ही अतिरिक्त रेडियोधर्मिता होनी चाहिए। इस अज्ञात तत्त्व की रेडियोधर्मिता यूरेनियम की तुलना में ४०० गुना अधिक थी। इसे जब नाम देने का प्रश्न आया तो मेरी क्यूरी का देशप्रेम जाग उठा और उन्होंने अपनी मातृभूमि के नाम पर उसका नाम रखा—पोलोनियम।

'पोलोनियम' की खोज जुलाई, १८९८ में हुई थी। इसके ५ महीने बाद दिसंबर, १८९८ में ही 'रेडियम' की खोज कर ली गई, जिसकी रेडियोधर्मिता यूरेनियन से २० लाख गुना अधिक थी।

रेडियम खोज लिया गया, पर वह तत्त्व रूप में न था। क्लोरीन के साथ संयुक्त था। वे उसे तत्त्व रूप में अलग करना चाहते थे, पर उस अन्वेषण के लिए उन्हें बहुत अधिक रसायन द्रव्य चाहिए था, जिसे खरीदने में वे असमर्थ थे। अंत में आस्ट्रिया सरकार की मदद से बोहिमिया की खानों से उन्हें एक टन कच्ची धातु (पिचब्लेंड) मिल गई। केवल ढुलाई का खर्च ही उन्हें देना था। क्यूरी दम्पति रात-दिन बड़ा परिश्रम कर उसे अग्नि पर गलाते, पसाते, छानते, निथारते और साफ करते। चार वर्ष तक पति-पत्नी मज़दूरों की तरह जंग लगे पाइप वाली पुरानी भट्टी के दमघोंटू वातावरण में हांफते-खांसते काम करते रहे। अंत में १९०२ में एक रात उनका श्रम सफल हुआ। एक टन कच्ची धातु से उन्हें कुल एक छोटी चम्मच (कुछ मिलिग्राम) रेडियम प्राप्त हुआ। इसमें से प्रस्फुटित होने वाली किरणें इतनी तेज़ थीं कि रेडियम की ट्यूब छूने मात्र से पियरे के हाथ जल गए थे।

१९०३ में मैडम क्यूरी ने 'पेरिस फैकल्टी आफ साइन्स' के समक्ष भाषण देकर अपने आविष्कार को लोगों के सामने रखा और उसके प्रयोग के लाभ समझाए। उन्हें डाक्टरेट की उपाधि तो मिली ही, इस खोज ने वैज्ञानिक जगत में तहलका भी मचा दिया। इसी वर्ष रायल संस्था में रेडियम पर भाषण देने के

लिए क्यूरी दम्पति को बुलाया गया। लंदन जाकर उन्होंने रेडियम के क्रियात्मक प्रयोग दिखाकर लोगों को चकित कर दिया। रायल संस्था की ओर से उन्हें 'डेवी' पदक प्रदान किया गया। इसके बाद तो सम्मानों और पुरस्कारों का तांता ही लग गया।

रेडियम संसार की सर्वाधिक मूल्यवान धातु थी। उसका मूल्य था प्रति ग्राम १ लाख ५० हज़ार डालर। यदि क्यूरी दम्पति रेडियम निस्सारण की विधि को पेटेंट करा लेते तो रातों-रात धनकुबेर बन सकते थे। पर यह उनका उद्देश्य न था। उन्होंने मानवता के हित में कार्य किया था और वही लेना स्वीकार कर सकते थे जो समाज उन्हें सम्मान के साथ प्रदान करता। और समाज से उन्हें भरपूर सम्मान मिला भी। आर्थिक समस्या भी हल हो चुकी थी, अधिक का लालच वे क्यों करते ! यही नहीं, क्यूरी दम्पति ने पदों, उपाधियों से बचने का प्रयत्न कर स्वयं को विज्ञान-कार्य में लगाए रखना ही पसंद किया। प्रसिद्धि और लोगों से बचने के लिए मैडम क्यूरी एकदम सादी वेशभूषा में रहतीं और बहुत कम बाहर निकलतीं।

पियरे क्यूरी को शीघ्र ही विज्ञान अकादमी का सदस्य चुन लिया गया। साथ ही वे सोर्बो में प्रोफेसर नियुक्त कर दिए गए। पहली बार उन्हें एक सुसज्जित प्रयोगशाला में काम करने का अवसर मिला। पर अधिक दिन यह खुशी उन्हें फली नहीं। १६ अप्रैल १६०६ को पियरे क्यूरी की एक सड़क-दुर्घटना में मृत्यु हो गई। मेरी क्यूरी पिछले ११ वर्षों से कभी एक दिन के लिए भी पति से अलग नहीं हुई थीं। दोनों पति-पत्नी ही नहीं, प्रेमी और सहकर्मी भी थे। इसलिए मैडम क्यूरी के लिए यह आघात सहन करना आसान न था। कुछ दिन विक्षिप्त की-सी स्थिति में काटे। फिर बच्चियों की खातिर काम करने को तैयार हो गईं। अपने पति और अपने प्रिय क्षेत्र विज्ञान से अलग होना भी कठिन था। अतः उन्होंने पति के रिक्त स्थान पर सोर्बो की प्रोफेसरशिप स्वीकार कर ली और नई प्रयोगशाला में नये प्रयोग शुरू कर दिए।

मैडम क्यूरी इसके बाद भी निरंतर शोधकार्य करती रहीं। उनका अगला कार्य था—रेडियम की स्वास्थ्यकारी शक्ति की खोज। १६११ में उन्हें पुनः नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। पहली बार की तरह दूसरे पुरस्कार की राशि को भी उन्होंने अनुसंधान-कार्य में ही लगा दिया। अपने वर्षों के परिश्रम से प्राप्त रेडियम को भी उन्होंने अपनी जन्मभूमि में स्थापित 'रेडियम इंस्टीट्यूट' को दान दे दिया। इस इंस्टीट्यूट के लिए धन जुटाने हेतु उन्हें संयुक्त राज्य अमेरिका की यात्रा भी करनी पड़ी।

१९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध के समय मैडम क्यूरी ने घायलों की चिकित्सा का बीड़ा उठाया और फ्रांस के कोने-कोने में घूमकर चिकित्सा-सेवाकार्य में लगी रहीं। अगले वर्षों में उनका काम था पति की याद और पीड़ित मानवों की सेवा।

१९३४ में यह महान महिला उन्हीं विकिरणों की भेंट चढ़ गई, जिनकी खोज में उन्होंने अपना सारा जीवन खपा दिया था। डाक्टर अंत तक उनकी बीमारी का पता न लगा सके थे क्योंकि उसमें इन्फ्लुएंजा, क्षय, अनीमिया आदि कई बीमारियों के लक्षण मौजूद थे। दरअसल वह 'रेडियम-पायजनिंग' थी, जिसमें रेडियमधर्मी विकिरिणों द्वारा शरीर धीरे-धीरे क्षयग्रस्त होता जाता है।

मैडम क्यूरी उन महानतम व्यक्तियों में से एक थीं, जो भौतिक सुख-सुविधाओं, प्रसिद्धि और ताम-झाम के जीवन से विरक्त, तटस्थ केवल अपने ध्येय को समर्पित होते हैं और चुपचाप मानवता की सेवा में सक्रिय रहकर ही सुख पाते हैं। संसार के कोने-कोने से लोग उनके पास संदेश, इंटरव्यू, आटोग्राफ लेने आते थे, पर उन्हें यह सब पसन्द न था। वह बचकर निकल जातीं और जाकर अपने काम में जुट जातीं। अपने दुबले-पतले शरीर और सीधे-सादे वेश में वह एक विलक्षण नारी, सफल पत्नी और स्नेहमयी मां थीं। महान वैज्ञानिक का दर्जा तो लोगों ने उन्हें प्रदान किया, स्वयं उनके मन में इसके लिए अभिमान कभी नहीं जागा। ऐसा नारी-व्यक्तित्व यदि युगों तक नारी-संसार को प्रेरणा देता रहे तो क्या आश्चर्य!

एक विश्व संस्कृति की पोषक

पर्ल बक

"मैं एक अजीबोगरीब किस्म की नारी हूं, जो लिखे बिना सुखी नहीं रह सकती।"—कोलम्बिया यूनीवर्सिटी के पत्रकारिता स्कूल में भाषण देते समय अपने सम्बंध में यह वाक्य बोलने वाली पर्ल एस० बक सचमुच एक ऐसी धुनी लेखिका थीं जिन्होंने वृद्धावस्था में अपनी आत्मकथा के अंत में भी यही लिखा—"कोरे कागज़ों का एक दस्ता मेरी मेज़ पर रखा हुआ पुस्तक की प्रतीक्षा कर रहा है। मैं एक लेखिका हूं, अतः नई पुस्तक लिखने के लिए अपना पेन उठा लेती हूं।"

मैं लेखिका हूं और उद्देश्यपूर्ण लेखन ही मेरे जीवन का ध्येय है—यह सूत्र वाक्य शायद हर घड़ी पर्ल बक के सम्मुख रहा। उनमें प्रेरणा और उत्साह भरता रहा तथा जीवनपर्यन्त उन्हें व्यस्त-प्रवृत्त रखता रहा।

पर्ल एस० बक बीसवीं सदी की एक ऐसी आदर्श चरित्र और महान व्यक्तित्व

की धनी महिला थीं जिसपर संसार की हर नारी गर्व कर सकती है। उनका सम्पूर्ण लेखन पूर्व और पश्चिम को जोड़ने वाली एक कड़ी के रूप में है। मानव और मानव के बीच की खाई को पाटने का, विश्व-बंधुत्व की भावना को फैलाने का और मनुष्य में सोई सद्भावना को जगाने का जितना काम अकेली पर्ल बक ने किया, उतना शायद किसी भी एक साहित्यकार ने नहीं। उनका अपना व्यक्तित्व भी पूर्व-पश्चिम दोनों में इतना अधिक जुड़ा है कि उन्हें अमरीकी उपन्यासकार कहें या चीनी, इसपर भी मतभेद है।

पर्ल एस० बक अमरीका में जन्मीं, चीन में पलीं, रहीं और फिर अपने देश अमरीका में आ बसीं। पर अमेरिकी होने और अमेरिका में रहने पर भी वे स्वयं को एशिया के ही अधिक निकट पाती थीं, किन्तु नागरिक वे स्वयं को न चीन का मानती थीं, न अमेरिका का। अपने-आप को विश्व का नागरिक कहती थीं और विश्व-नागरिकता, विश्व की एक सामान्य संस्कृति में विश्वास रखती थीं। इसी संस्कृति के विकास के लिए मनुष्य की सामान्य समझ के विकास में उन्होंने अपना पूरा जीवन लगा दिया।

उनके विचार में, पूर्व और पश्चिम के लोग अब नये सम्बंधों के लिए विवश है। नये वैज्ञानिक ज्ञान और उससे उत्पन्न विचारधारा से हम एक आश्चर्यजनक नई संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं। आज कोई भी संस्कृति युग की मांग के अनुरूप नहीं है। हमें दोनों में से एक बात का चुनाव करना है—या तो-हम दृढ़ता से एक सामान्य विश्व-संस्कृति की दिशा में बढ़ें या फिर अपनी छोटी-छोटी सकीर्ण संस्कृतियों को बचाए रखने के प्रयत्न में नष्ट हो जाएं। हम हमेशा, संकरी गलियों में बंटे, कटे हुए रहते आए हैं क्योंकि और कोई रास्ता न था, मार्ग दर्शन न था। पर अब हम उस स्थिति में पहुंच गए हैं जहां सीमाएं समाप्त हो गई हैं। अब हम इस स्थिति से पीछे नहीं लौट सकते। आगे बढ़ने के सिवा कोई और चारा नहीं है। कृत्रिम सीमाएं खड़ी करेंगे तो इसका अर्थ विश्व के विनाश का आवाहन करना होगा।

वे चाहती थीं कि कलाकार अपनी ज़िम्मेदारियों को समझें। बदलती स्थितियों से न तो उन्हें भयभीत होना चाहिए, न निराश। साहित्यकार ही जीवन के तथ्यों की खोज कर संसार को नई राह दिखा सकता है। मानव-जाति की व्याख्या करना और एक उन्नत सुखी समाज की कल्पना ही नहीं, निर्माण करना भी उसीका काम है। यह महत्त्वपूर्ण कार्य मनुष्य की सामान्य समझ के विकास से ही सम्पन्न होगा। मनुष्य-मनुष्य में भेद मिटाकर ही सम्भव होगा।

स्वयं पर्ल एस० बक ने इस ज़िम्मेदारी को बखूबी समझा और निभाया।

उनका सम्पूर्ण लेखन एक उद्देश्यपूर्ण लेखन है और यही उनके जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि भी है।

श्रीमती पर्ल एस० बक अमरीकी थीं, पर अमरीकी लोगों ने कभी भी उन्हें अपने साहित्यकार के रूप में स्वीकार नहीं किया, पर नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने वाली वे ही प्रथम अमेरिकी महिला थीं। अपने देश में उन्हें अपेक्षित स्नेह और स्वागत नहीं प्राप्त हो सका तो इसका कारण यही है कि उनका अधिकांश लेखन चीन पर आधारित है। चीन में उन्होंने अपना बचपन बिताया और बाद के कुछ वर्ष, पर तीस साल से अधिक, उनके दिमाग पर चीन ही छाया रहा। उनकी विश्व-विख्यात कथाकृति 'द गुड अर्थ' भी चीनी पृष्ठभूमि पर ही लिखी हुई है। १९३१ में इस उपन्यास के प्रकाशित होते ही सारी दुनिया में इसकी चर्चा हुई। विश्व की सभी पुस्तकों में सर्वाधिक बिक्री उसकी हुई और पर्ल एस० बक को संसार की एक असाधारण उपन्यास लेखिका के रूप में मान्यता इसी पुस्तक ने दिलाई। १९३२ में इसी उपन्यास पर पर्ल एस० बक को सुप्रसिद्ध 'पुलित्ज़र' पुरस्कार भी प्रदान किया गया था। इस उपन्यास पर एक फिल्म बन चुकी है और संसार की बीस भाषाओं में उसका अनुवाद हो चुका है।

'द गुड अर्थ' में एक चीनी किसान वांग लूंग और उसके अपनी मातृभूमि के प्रति अनूठे प्रेम की कहानी है। यह कहानी है एक सीधे-सादे सच्चे किसान की, उसकी पतिपरायणा पत्नी की, जो अपने पति के साथ गरीबी, अकाल सब झेलने को प्रस्तुत है और उनके तीन बेटों की, जो अपनी मातृभूमि को प्यार नहीं करते। यह उपन्यास इस सदी के दूसरे-तीसरे दशक के समाज का एक जीवन्त चित्र है, जिसमें पुराना ढांचा टूट रहा था। तत्कालीन चीनी किसानों के जीवन का ऐसा वास्तविक व मार्मिक वर्णन अन्य किसी चीनी लेखन की पुस्तक में भी नहीं मिलता।

कुल मिलाकर उन्होंने ४० से अधिक पुस्तकें लिखी हैं। इनमें से १६-१७ उपन्यास हैं और २३ बच्चों के लिए मनोरंजक कहानियों की छोटी-छोटी पुस्तकें। सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर उनके कुछ निबंध-संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं और चीन के सबसे अधिक प्रसिद्ध उपन्यास 'शूई-हू-चुआन' का भी उन्होंने 'आल मैन आर ब्रदर्स' नाम से अंग्रेज़ी भाषा में अनुवाद किया है। इस वृहद अनुवाद में उन्हें साढ़े चार साल तक कठोर परिश्रम करना पड़ा था। इसीसे उनकी कर्मठता और परिश्रमशीलता का अनुमान लगाया जा सकता है। उनके उपन्यासों के नाम है : 'द गुड अर्थ', 'ईस्ट विंड, वेस्ट विंड', 'ड्रेगन सीड', 'द पैट्रियट', 'पोर्टेट आफ ए मेरिज;' 'द स्पिरिट एंड द फ्लैश;' 'टु डे एंड फार एवर;'

,दि प्रामिज़ ;' 'अदर गाड्स ;' 'पेवीलियन आफ वीमेन ;' 'दिस प्राउड हर्ट ;' 'हाउस आफ अर्थ ;' 'ए हाउस डिवाइडेड ;' [illegible] और '[illegible]' । इस समस्त लेखन-कार्य के लिए १६३८ में उन्हें नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया ।

पर्ल एस० बक का जन्म हिल्सबोरो, वेस्ट वर्जीनिया में २६ जून, १८९२ में हुआ था । माता-पिता चीन में अमेरिकी मिशनरी थे । बालिका पर्ल पांच महीने की आयु में ही अपने माता-पिता के साथ चीन आ गई थी । उनका बचपन अमेरिकी जीवन की तड़क-भड़क से दूर चीन के किसान परिवारों के बीच व्यतीत हुआ । उन्हें अपनी बूढ़ी चीनी नर्स से बौद्ध और ताओ धर्म की अनेक आश्चर्य-जनक कहानियां सुनने को मिलीं । अपने बचपन के संस्मरणों में वे लिखती हैं, "चिगकांग नगर में यांगत्सी नदी के समीप एक पहाड़ी के शिखर पर हमारा छोटा-सा बंगला था । वहां से नदी का विस्तार और प्रकृति की मनोरम छटा दूर तक दृष्टिगोचर होती थी । पर्वतों की ऊंची-नीची श्रेणियां, सुरम्य घाटियां, उर्वरा भूमि पर फूलों का बिखरा सौरभ और आकाश में दूर तक फैली हुई नीलिमा, हरे-भरे बांसों के झुंड और पक्षियों की चहचहाहट वातावरण में एक विचित्र मस्ती और उन्माद भर देती थीं । पहाड़ी के नीचे एक विशाल मंदिर था, जिसके द्वार पर एक चिड़चिड़े स्वभाव वाला बूढ़ा पुजारी बैठा रहता था । मैं उस पुजारी से बहुत डरती थी ।"

बालिका पर्ल पर इस प्राकृतिक वातावरण और चीनी किसानों के सीधे-सादे जीवन का गहरा प्रभाव पड़ा । बूढ़ी चीनी नर्स द्वारा सुनाए गए आश्चर्यजनक किस्से-कहानियों का भी उसके भीतर के कथाकार को गढ़ने में काफी हाथ रहा । अपने संस्मरणों में उन्होंने इन जादूभरी देव-दानवों, स्वर्ग-नरक की कहानियों के निष्कर्षों को घंटों हरे बांसों के झुरमुट में बैठकर सोचने का उल्लेख किया है । मां से उन्हें अपने देश अमेरिका के वीरों, योद्धाओं की कहानियां सुनने को मिलीं और नर्स से मनोरंजक व शिक्षाप्रद लोककथाएं । दोनों के सम्मिलित प्रभाव ने उनमें विश्वजनीन भावनाओं का संचार किया और उनके मानस को दीक्षित कर उनके सर्वप्रिय कथाकार-व्यक्तित्व का निर्माण किया । यद्यपि अपनी मां और नर्स दोनों के प्रभाव को उन्होंने स्वीकार किया है पर अपनी स्नेहमयी नर्स की छाया में प्रायः एकाकिनी रूप में पलने-बढ़ने की अपनी बिखरी स्मृतियों को उन्होंने बड़े ही सरस और मार्मिक ढंग से अपने संस्मरणों में पिरोया है ।

पंद्रह साल तक मिस पर्ल को मां ने घर पर ही शिक्षा दी । शब्दों की सामर्थ्य और भाषा की सुन्दरता की ओर उनका ध्यान मां ने ही दिलाया । फिर उन्हें शंघाई के एक स्कूल में भरती करा दिया गया । सत्रह वर्ष की आयु में

वे उच्च अध्ययन के लिए अमेरिका भेज दी गईं। वहां उन्होंने लिंच वर्ग (विर-

जीना) के रैण्डोल्फ-मेकान वोमेंस कालेज से १९१४ में स्नातक की उपाधि ली।
उसके बाद वे चीन लौट आईं। यद्यपि मां ने बार-बार अमेरिका को अपना घर मानने की बात उनके मन में बैठाई थी, पर वहां उनका मन न लगा। अमेरिकी कालेजों का उच्छृंखल वातावरण उन्हें बिल्कुल नहीं भाया। वे अपनी सह-पाठिनियों से अलग-थलग रहने लगीं। प्राय: अमेरिकी लड़कियां उन्हें चीन से आई पिछड़ी लड़की समझकर हेय दृष्टि से देखतीं और नाक-भौं सिकोड़ती थीं। यह बात उन्हें भीतर तक चीर जाती और वे उपेक्षित, पिछड़े चीनियों के प्रति और भी झुकने लगतीं। लेकिन कक्षा में सबसे अलग और गंभीर रहने के बावजूद अपनी प्रतिभा और लेखनी के बल पर शीघ्र ही वे कालेज में लोकप्रिय हो गईं। प्रतिमास कालिज-पत्रिका में उनके लेख छपते। दो बार उन्हें पुरस्कृत भी किया गया। इससे कालेज का नेतृत्व उनके हाथ में आ गया और चिढ़ाने वाली लड़कियां मुंह देखती रह गईं।

चीन लौटने के बाद दो वर्ष उन्हें अपनी रोगिणी मां की परिचर्या में बिताने पड़े। फिर जान एल० बक नामक एक अमेरिकी मिशनरी युवक से विवाह कर वे उत्तरी चीन चली गईं। वहां पांच वर्ष तक रहकर उन्होंने चीनी ग्रामीण जन-जीवन का और भी निकट से अध्ययन किया। उनकी अकालजनित भूख, गरीबी, डकैतों से भय और असुरक्षा का प्रत्यक्ष अनुभव किया, जिससे उनके मन में उन गरीब चीनियों के प्रति सहानुभूति उमड़ पड़ी। तभी उन्हें लगने लगा कि इन अनुभूतियों को वे कभी न कभी लिखेंगी अवश्य। उन दिनों तो अपनी दो नन्ही बच्चियों के पालन-पोषण और घर-गृहस्थी के कार्य में व्यस्त रहने के कारण इतना अवकाश उन्हें नहीं मिल पाता था।

इसके बाद बक दम्पति नानकिंग चले आए। यहां का नागरिक जीवन उस जीवन से बिल्कुल भिन्न था। यहां वे नानकिंग यूनिवर्सिटी तथा बाद में चुंगयांग यूनिवर्सिटी में कुछ वर्षों तक अंग्रेज़ी की प्रोफेसर रहीं। इसी अवधि में उनका लेखन प्रारंभ हुआ। १९२२ में उन्होंने अपना पहला लेख 'एटलांटिक' मासिक पत्र में प्रकाशनार्थ भेजा, जो तुरन्त स्वीकृत हो गया। 'इन चाइना' शीर्षक के इस लेख का ऐसा प्रभाव पड़ा कि फिर दूसरे सम्पादक भी उनसे रचनाएं मांगने लगे और सिलसिला चल पड़ा। उस समय की परंपरानुसार पर्ल एस० बक ने रोमानी कल्पनाओं पर आधारित रंगीन लेख नहीं लिखे, बल्कि उससे हटकर उनके लेखों में नित्य-प्रति के चीनी जीवन की यथार्थ और मार्मिक झलक मिलती थी। १९२४ में अमेरिका के एक प्रमुख पत्र 'नेशन' में 'चीनी विद्यार्थियों का मस्तिष्क' शीर्षक

जो लेख प्रकाशित हुआ, उसकी भी व्यापक प्रतिक्रिया हुई और अमेरिका, चीन दोनों में उनकी ख्याति बढ़ी। फिर १९२५ में वे फिर एक वर्ष के लिए अमेरिका गईं और वहां से स्नातकोत्तर उपाधि लेकर लौटीं।। उनका शोध-विषय था—'चीन और पश्चिम' जिसपर 'ल्यौरा-मसैंजर' पुरस्कार भी उन्हें मिला।

श्रीमती पर्ल एस० बक का प्रथम उपन्यास 'ईस्ट विंड, वेस्ट विंड' १९३० में प्रकाशित हुआ था। इसका प्लाट उन्होंने चीन से अमेरिका जाते हुए यात्रा के दौरान अपने जहाज़ के एकान्त कमरे में बैठकर सोचा था। अंग्रेज़ी जहाज़ के यात्री औपचारिकता में बंधे एक-दूसरे से कम से कम बोलते थे, जबकि एशिया में उन्हें खुला वातावरण मिला था। यही विषय उनके प्रथम उपन्यास की प्रेरणा बना। इस उपन्यास के लेखन-प्रकाशन की कहानी भी बड़ी मार्मिक है। १९२६ में उन्होंने इसे लिखना प्रारंभ किया था। मार्च, १९२७ में नानकिंग में राष्ट्रीय सैनिकों ने विदेशी परिवारों की लूट-मार शुरू कर दी। श्रीमती पर्ल एस० बक का घर जला दिया गया, जिसमें उनके एक लगभग सम्पूर्ण उपन्यास की पांडुलिपि भी जलकर राख हो गई। आक्रमण से कुछ ही मिनट पूर्व श्रीमती बक अपनी दो अबोध बच्चियों और पति के साथ घर से निकल भागीं व इस तरह बाल-बाल बचकर तेरह घंटों तक एक चीनी बुढ़िया के मकान के तहखाने में छुपी रहीं। इस बीच सौभाग्य से उनकी छोटी बच्ची नहीं रोई, वर्ना न जाने क्या होता। बाद में 'एशिया मैग्ज़ीन' को अपने अनुभव लिखते हुए उन्होंने लिखा, "अपने श्वेत रंग के कारण ही हमारा यह मृत्यु से साक्षात्कार हुआ था। इसका भयंकर अनुभव मुझे सदा याद रहेगा। जान बचने का कारण भी मेरी अपनी चीनी मित्रों से सहानुभूति व बदले में उनकी सहायता ही था।"

इस घटना के बाद कुछ दिनों के लिए पर्ल दम्पति जापान चले गए। लौटने पर फिर १९३० में 'ईस्ट विंड, वेस्ट विंड' तथा १९३१ में 'द गुड अर्थ' नामक उपन्यास प्रकाशित हुए और 'द गुड अर्थ' के प्रकाशन ने उन्हें विश्वव्यापी ख्याति दिला दी। नानकिंग व चुंगयांग यूनिवर्सिटी में उन्होंने दस वर्ष तक अध्यापन-कार्य किया। इसी बीच १९३२ में उन्होंने अपने एक भाषण और लेख द्वारा विदेशी मिशनरी पादरियों के काम की कड़ी आलोचना की। फलस्वरूप विदेशी मिशनों के बोर्ड से उन्हें त्यागपत्र देना पड़ा। फिर सन् १९३४ में श्रीमती पर्ल एस० बक अमेरिका चली गईं और अपनी रचनाओं के प्रकाशक 'जान डे कम्पनी' में काम करने लगीं।

१९३५ नें उन्होंने मिस्टर बक से सम्बंध-विच्छेद कर 'एशिया मैग्ज़ीन' के प्रधान सम्पादक व 'जान डे कम्पनी' के प्रेसीडेंट श्री रिचर्ड जे० वाल्श से विवाह

कर लिया और पेनीसिल्वेनिया में चार सौ एकड़ जमीन लेकर नागरिक बस्ती से दूर अपना नया घर बसा लिया। जिन्हें उनके इस गांव वाले घर में जाने का सौभाग्य मिला है वे जानते हैं कि श्रीमती बक केवल कुशल लेखिका ही नहीं, एक सहृदय समाज सेविका भी थीं। यहां उन्होंने विभिन्न राष्ट्रीयता, खून, जाति व रंग के कुछ अनाथ बालक, बालिकाओं को गोद ले रखा था और उनकी मां बन उन्हें स्नेह और आश्रय प्रदान कर रही थीं। १९४८ में इस आश्रय-गृह की नींव रख उन्होंने अपने मानवतावादी दृष्टिकोण और विश्व-संस्कृति के सपने को एक छोटे रूप में साकार कर दिया है। उनके इस सेवा कार्य के पीछे मूल भावना उनके इस सिद्धान्त का प्रतिपादन ही है कि मानव मूलरूप से समान है—पूर्वी हो या पश्चिमी और गोरा हो या काला।

अमेरिका में स्थायी निवास के बाद भी उन्होंने अपने मकान की सजावट चीनी ढंग से कर रखी थी और चीनी भोजन भी पसंद करती थीं। उनके इस चीन प्रेम और समता में विश्वास के कारण कई लोग उन्हें साम्यवाद का समर्थक समझते हैं। पर यह उनका भ्रम है। श्रीमती बक न साम्यवादी थीं, न साम्यवादी चीन से उनको कुछ लगाव था, बल्कि वे इसकी आलोचक थीं। उन्हें तो चीन की प्राचीन संस्कृति से प्यार था। उनके विचार में, साम्यवादी चीन द्वारा अपनी प्राचीन समृद्ध संस्कृति का विनाश उसकी सही दृष्टि नहीं है। किसी भी देश का निर्माण, जो परंपराओं से कटकर होगा, वह स्वस्थ नहीं हो सकता।

श्रीमती पर्ल एस० बक मात्र एक उपन्यास-लेखिका ही नहीं थीं, वे स्वयं में एक संस्था थीं —मानववादी संस्था। चीन-अमेरिका, पूर्व-पश्चिम को जोड़ने वाली एक सांस्कृतिक कड़ी के रूप में उन्हें याद किया जाता है और सदा याद किया जाता रहेगा। वे अपने द्वारा संस्थापित 'पूर्व-पश्चिम संघ' की अध्यक्षा थीं और वृद्धावस्था में भी अपनी कृतियों तथा इस संस्था द्वारा एक सामान्य विश्व-संस्कृति के निर्माण में रत रही हैं। इसके बाहर कुछ भी देखने या सोचने की उन्हें फुरसत नहीं थी।। वे एक लंबे समय तक जान सेजेस के छद्म नाम से अमेरिकी जीवन का भी चित्रण करती रहीं और उन्हें इस चित्रण में भी उतनी ही सफलता मिली जितनी कि चीनी जन-जीवन के चित्रण में।

६ मार्च १९७३ को ८० वर्ष की उम्र में उनका देहावसान हो गया। मृत्यु के समय उनके नौ दत्तक पुत्र-पुत्रियों (उनके द्वारा पोषित अनाथ बालक बालिकाओं) ने ही उन्हें उनके प्रिय फार्म में जंगली अखरोट के वृक्ष के नीचे दफनाया।

जन-मानस की कुशल चितेरी और एक विश्व-संस्कृति की पक्षधर श्रीमती पर्ल एस० बक ने तीस से अधिक वर्षों तक अपने शक्तिशाली लेखन से साहित्य और मानवता की जो अभूतपूर्व सेवा की, उसकी मिसाल कम ही मिलती है।

एक विवादास्पद, क्रांतिकारी व्यक्तित्व

मैडम सन यात सेन

चीन के राष्ट्रपति डा० सन यात सेन का जीवन एक साहसिक रोमांचकारी उपन्यास का-सा रहा···अनेक खतरों से जूझने वाला और अनेक स्थलों पर औपन्यासिक हीरो की तरह ही मौत के मुंह से बाल-बाल बच निकलने वाला। ऐसे क्रांतिकारी राष्ट्रीय नेता का वरण कर जान-बूझकर खतरों से भरी जिन्दगी को अपनाने वाली उनकी वैसी ही साहसिक युवा पत्नी का नाम था, चिंग लिंग, जो मैडम सन यात सेन के नाम से विश्वख्याति अर्जित कर चुकी हैं।

कदम-कदम पर खतरों से भरे अपने जीवन की एक घटना का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है, "एक विद्रोही सरदार अपने पचीस हज़ार अनुयायियों के साथ कैंटन को लूट रहा था। डा० सन के पास सीमा रक्षा पर केवल पांच सौ सैनिक बच रहे थे। रात दो बजे डा० सन ने मुझे सपनों की नींद से जगाते हुए कहा, 'प्रिय, उठो और मेरे साथ जल्दी निकल भागो।' हम लोग खतरे से घिरे

थे। तैयारी का समय न था। तभी मुझे एक बात सूझी। मैंने कहा, 'मुझे साथ ले जाने से आप खतरे में पड़ जाएंगे। आपका जीवन राष्ट्र की अमूल्य निधि है। आप जल्दी से जल्दी यहां से सुरक्षित निकल जाइए। पीछे जो होगा, मैं देख लूंगी।' डा० सन पहले हिचकिचाए, फिर मेरा आग्रह मानकर पचास व्यक्तियों का पहरा मुझपर छोड़, चले गए।

"आध घण्टे बाद ही गोलियों की धायं-धायं होने लगी। 'सन को घेरो,' 'सन को पकड़कर मार डालो' की आवाज़ों के साथ मकान चारों ओर से घिर गया। मेरे रक्षक गोलियों का जवाब गोलियों से बराबर दे रहे थे। पर आठ बजते न बजते उनके पास बारूद खत्म होने लगा। तब तक व्यक्ति भी एक तिहाई ही रह गए थे। डा० सन के एक विदेशी शिष्य कर्नल बो और अन्य दो पहरेदारों के साथ लगातार गोलियां चलाते और दुश्मन का वार झेलते मैं निकल भागी। पीछे बचे रहे पहरेदारों ने पीछा करने वालों का मुकाबला किया। फिर भी कर्नल बो मार डाले गए। सुबह आठ बजे से शाम चार बजे तक हम तीनों व्यक्ति प्रेसीडेंसी हाउस के एक कमरे में छिपकर विद्रोहियों की गोलियों का उत्तर देते रहे। फिर छत उड़ा दिए जाने पर गोलियों की नंगी बौछार से घिर गए। एक गोली तो सिर को खरोंचती हुई निकल गई। हम भागकर दूसरी ओर गए कि कमरे की दीवारें भी गिर गईं। मेरे पहरेदारों ने प्रस्ताव रखा, मैडम सन की सुरक्षा की गांरटी दें तो हम समर्पण करने के लिए तैयार हैं। उधर से कोई आश्वासन नहीं दिया गया।

"तभी हमें एक उपाय सूझा। वे लुटेरे तो थे ही। हमने अपने सामान के बण्डल उनकी तरफ फेंके और उनके उधर लपकते ही, मौका देख, मैं निकल भागी। निकलते समय मृत कर्नल बो के हैट और एक सिपाही के बरसाती कोट ने पहचाने जाने से मेरी रक्षा की। भीड़ को चीरती हुई मैं एक छोटी-सी गली में घुस गई। दोनों पहरेदार भी शीघ्र ही आ मिले। बारह-चौदह घंटे की जीवन-मृत्यु की इस लड़ाई से मैं इतनी ज़्यादा थक चुकी थी कि फिर घिर जाने पर और लड़ने की ज़रा भी ताकत शेष न बची थी। मैंने अपने साथियों से प्रार्थना की कि वे मुझे गोली मार दें, पर उन्होंने मुझे गोली मारने के बजाय बांह पकड़कर ज़ोर से घसीटा और शक्ति चुक जाने के बावजूद सहारा देकर तेज़ी से घसीटते हुए सुरक्षित स्थान की ओर ले आए, जबकि वे स्वयं छाती, बांहों, टांगों पर अनगिनत घाव लिए थे।

"पर हम एक बार फिर दूर से आती भीड़ से घिर गए। दोनों ने मेरे कान में फुसफुसाकर कहा, 'जल्दी से ज़मीन पर लेट जाओ और सांस रोककर मृत

व्यक्ति का-सा अभिनय करो।' हम तीनों लेट गए। भीड़ अभी ज़रा दूर थी। पास चार लाशें और पड़ी थीं। मेरे सहयोगी ने फिर फुसफुसाकर सलाह दी। लाश को या घाव को मत देखो, वर्ना बेहोश हो जाओगी। मैं दम साधे आंख मूंदकर औंधी लेट गई कि मुंह हैट से ढका रहे। थोड़ी देर में विद्रोही भीड़ निकल गई और हम सुरक्षित थे। मैं उठकर समीप के एक घर में घुस गई। वहां से गृह-स्वामिनी की मदद से ग्रामीण बुढ़िया बनकर बाहर निकली। अगली सुबह पता चला, डा० सन जीवित हैं और तट पर एक नौका लिए हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। रात तक हम पति-पत्नी फिर मिल गए और नौका पर बैठ अज्ञातवास को निकल पड़े।"

ऐसी ही रोमांचकारी कहानियों से भरा था उनका जीवन। डा० सन जीवित रहे तब भी, और वे चले गए तो उसके बाद भी। उनका पूरा जीवन ही त्याग, उत्सर्ग और साहस की एक कहानी है।

चिंग लिंग का जन्म शंघाई में १८९० में हुआ। बचपन से ही एक निर्भीक और दृढ़मना लड़की थी वह। शंघाई के एक समृद्ध बैंकर चार्ले सुंग चीन के राष्ट्र-पिता डा० सन यात सेन के प्रमुख समर्थकों में से एक थे। अपने पुत्र और तीनों पुत्रियों ए लिंग, चिंग लिंग और मे लिंग सहित वर्तमान चीन के निर्माण में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। तीनों बहनें एकसाथ पढ़ने के लिए अमेरिका भेजी गई थीं, पर तीनों की रुचियों और स्वभाव में बहुत अन्तर था। बड़ी बहन ने धन-ऐश्वर्य से नाता जोड़ा और अमेरिका के एक करोड़पति से शादी कर वहीं बस गई। सबसे छोटी स्वभावतः चंचल, फैशनेबल और महत्त्वाकांक्षी थी। श्री च्यांग काई शेक से विवाह कर मैडम च्यांग के रूप में चीन की अग्रगण्य महिला बनी और डा० सन की मृत्यु के बाद अपनी बहन से ही होड़ लेने लगी। मंझली चिंग लिंग स्वभाव से दार्शनिक, देशभक्त और क्रांतिकारी थी। वह डा० सन जैसे क्रांतिकारी से विवाह कर उनके खतरों-भरे कर्मठ जीवन की प्रेरणा बनी और डा० सन की मृत्यु के बाद भी जीवन भर उनके ध्येय के लिए लड़ती रही। उन्हें कई बार राज्यसत्ता का प्रलोभन दिया गया। एक बार च्यांग द्वारा वे बंदी भी बनाई गईं। दो बार खतरनाक परिस्थितियों में उन्हें देश छोड़कर भागना पड़ा, पर वे अपने रास्ते से कभी नहीं हटीं।

जनरल च्यांग डा० सन यात सेन के अनुयायियों में से एक थे। पर डा० सन की मृत्यु के बाद क्रांतिकारी राष्ट्रवादी भी दो दलों में बंट गए थे। एक रूस समर्थक साम्यवादी दल, दूसरा च्यांग काई शेक के नेतृत्व में बना विरोधी दल। दोनों ही दल मैडम सन यात सेन का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहे

और समय-समय पर उनका नाम अपनी पार्टी के साथ जोड़ते रहे। इसलिए मैडम सन का व्यक्तित्व बड़ा विवादास्पद हो उठा था। जब एक पार्टी के साथ उनके नाम की घोषणा हुई तो दूसरी पार्टी के रोष से बचने के लिए उन्हें देश से चला जाना पड़ा। दूसरी बार दूसरी पार्टी के साथ उनके नाम की घोषणा निकली तो फिर पहली पार्टी के उपद्रव से बचने के लिए उन्हें निर्वासित जीवन बिताना पड़ा। इस तरह अपने-अपने स्वार्थों के वशीभूत दोनों दल उन्हें अपना निशाना बनाते रहे जबकि मैडम सन केवल चीन की उन्नति-संबंधी अपने पति के ध्येय और आदर्श को समर्पित थीं और उसीके लिए काम करना चाहती थीं।

इसी खींचतान में चीन में कभी छोटी बहन मैडम च्यांग काई शेक का सितारा बुलंद होता तो कभी बड़ी बहन मैडम सन यात सेन का, पर मैडम सन यात सेन को समझने का बहुत कम प्रयत्न किया गया। डा० सन की जनवादी परंपरा में गरीब-अमीर का भेद-भाव मिटाकर जिस सांस्कृतिक समन्वय की बात थी, उनके सच्चे अनुयायी होने का दम भरने वाले दोनों पार्टियों के समर्थक ही उससे दूर थे। इसलिए मैडम सन यात सेन के मानस में जो मन्थन चल रहा था, उसे लेकर उन्हें एक विवादास्पद व्यक्तित्व बना घोर उलझनों और संकटो में डाल दिया गया। पर यह साहसी नारी देश की स्वाधीनता और प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए किसी भी स्थिति में अविचलित हुए बिना अपने महान पति के चरण-चिह्नों पर चलती रही। खींचतान वाली राजनीति से ऊबकर उन्होंने अपना अधिकांश समय समाज-सेवा के कार्यों में बिताना प्रारंभ कर दिया। उनके अन्तर में शोषित मानवता के लिए गहरी करुणा और ममता है। उत्सर्ग की भावना इसी से उद्भूत होती है। शिशु कल्याण और शिक्षा कार्यों में विशेष दिलचस्पी के कारण उन्हें चीन के लाखों बच्चों की 'दादी मां' के रूप में जाना जाता है।

अपनी शिक्षा समाप्त कर चिंग लिंग जब डाक्टर सन की प्राइवेट सेक्रेटरी नियुक्त हुईं तो उनकी आयु केवल उन्नीस वर्ष थी। डा० सन अड़तालीस वर्ष के विधुर थे और खतरों-भरा एकाकी जीवन बिता रहे थे। १९१६ में जब डा० सन जापान में निर्वासित जीवन बिता रहे थे तो उनके कार्य में सहायता के लिए चिंग लिंग भी साथ थीं। वहीं इस साहसी युवती के प्रेम ने उनके एकाकी निराश जीवन में नई स्फूर्ति व साहस का संचार किया। धनी माता-पिता को, डा० सन के प्रति श्रद्धा के बावजूद, यह संबंध स्वीकार न था। वे अपनी बेटी का विवाह एक समृद्ध परिवार में कर उसे सुरक्षित जीवन प्रदान करना चाहते थे। पर चिंग लिंग ने माता-पिता को नाराज़ कर स्वयं अपने बलबूते पर यह कंटकाकीर्ण जीवनपथ चुन लिया। उनके भीतर की क्रांतिकारी युवा नारी को डा० सन के

सामीप्य में बल भी मिला, प्रशिक्षण भी । जीवन की राह निश्चित हो गई और चिंग लिंग मैडम सन यात सेन बनकर उनके हर कार्य में सहयोग देने लगीं ।

केवल आठ वर्षों के वैवाहिक जीवन के बाद ही उन्हें अपने युवा अरमानों को वैधव्य के क्रंदन और त्याग-बलिदान भरे भावी शुष्क जीवन को समर्पित कर देना पड़ा। लेकिन पति का प्रेम सदैव उनका संबल बना रहा। डा० सन का ध्येय मडम सन का ध्येय बन गया। पर डा० सन के अनुयायियों में फूट और विवाद को लेकर वे जीवन-भर दुःखी, उदास और निराश रही हैं। इसी कारण वर्षों तक मास्को में उन्हें निर्वासित जीवन व्यतीत करना पड़ा और एक बार फिर लम्बे समय तक अज्ञातवास में भी रहना पड़ा। पर कार्यक्षेत्र में लौटते ही उनकी सारी उदासी दूर हो जाती थी। बाद में कम्युनिस्ट शासन में उपाध्यक्ष रहकर उन्होंने सरकारी कार्यों में भी हाथ बंटाया, फिर भी उन्हें यह मलाल बना रहा कि उन्हें ठीक से समझा नहीं गया और देश का एक टुकड़ा अलग हो गया।

१९४९ में जब राष्ट्रवादी चीन छोड़कर फारमोसा चले गए तो मैडम सनयातसेन राष्ट्रवादी आन्दोलन से लगभग अलग हो चुकी थीं। इसलिए वे फारमोसा न जा चीन में ही रह गईं। यद्यपि दोनों गुटों में से पूरी तरह वे किसी के साथ भी न थीं, क्योंकि यह विभाजन ही उनके सिद्धान्तों के प्रतिकूल था, पर कम्युनिस्ट चीन में रह जाने तथा अमेरिका-विरोधी उनके लेखों-भाषणों के कारण चीनी सरकार में उनका मान बढ़ता गया। १९४९ में उन्हें चीनी सरकार में उपाध्यक्ष का पद सौंपा गया। १९५१ में उन्हें 'स्तालिन शांति पदक' से सम्मानित किया गया। १९५९ में वे चीनी गणराज्य की उपप्रधान नियुक्त की गईं। इन उच्च पदों पर रहते हुए भी वे अपना अधिकांश समय देश के विकास-कार्यों और समाज सेवा-कार्यों में ही बिताती रहीं।

आज मैडम सनयातसेन लगभग अस्सी वर्ष की वृद्धा हैं। तरुणावस्था से लेकर सारा जीवन उन्होंने चीनी राष्ट्र की स्वतन्त्रता और उन्नति के लिए अर्पित किया है। अपने ध्येय के लिए हमेशा खतरों से जूझी हैं। पर चीन के लाल प्रहरियों ने इस अन्तिम अवस्था में जिस प्रकार उन्हें अपमानित किया है उसे मैडम सन यात सेन के भाग्य की विडंबना ही कहा जाएगा। २१ सितंबर, १९६६ को छपे एक समाचार के अनुसार, लाल-प्रहरियों ने श्रीमती चिंग लिंग के शंघाई स्थित निवास स्थान को लूट लिया और उन्हें यह कहकर अपमानित किया कि चीन जैसे देश में उन्हें धन-संपत्ति रखकर आराम की जिन्दगी बिताने का कोई अधिकार नहीं है। यह भी सुना गया कि प्रधानमन्त्री चाउ एन लाई ने मैडम सन यात सेन के बीते दिनों की याद कर लाल प्रहरियों से अनुरोध किया कि वे उन्हें बख्श

दें। राष्ट्र की एक अग्रणी नेत्री और हितचिन्तक अपने अन्तिम दिनों में इस प्रकार सरकारी अपमान और दया की पात्र बनें, किसी राष्ट्र के लिए इससे अधिक शर्म की बात क्या होगी। पर मैडम सन यात सेन जैसी निष्काम सेवामयी महिला फिर भी इसे अपने भाग्य की विडंबना के सिवा अन्य कोई नाम नहीं देती।

महिला मताधिकार की सर्वप्रथम आवाज़

इमीलाइन पैंकहर्स्ट

सन् १९६८ को इंग्लैण्ड की स्त्रियों ने 'नारी-मुक्ति-आन्दोलन' की स्वर्ण जयंती के रूपमें मनाया। लगभग ६० वर्षों के लंबे संघर्ष के बाद १९१८ में जाकर इंग्लैंड की स्त्रियों को सीमित रूप में मताधिकार प्राप्त हुआ था जो फिर १९२२ में पुरुषों के समान वयस्क मताधिकार में परिवर्तित हुआ।

यद्यपि यह सफलता बहुत देर से हाथ लगी और इस आंदोलन के प्रारंभिक काल में 'वीमेंस राइट टू फ़्रीडम' की लेखिका मेरी वूल्सटन क्राफ्ट, 'सबजेक्शन आफ वीमेन' के लेखक जान स्टुअर्ट मिल, फ्रांसीसी क्रांति के दार्शनिक लेखकों की स्वतन्त्रता व लोकतन्त्र के पक्ष में वैचारिक पृष्ठभूमि और विभिन्न महिला संगठनों के निरन्तर सक्रिय प्रयत्नों के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता, पर आंदोलन को तीव्र गति प्रदान कर सफलता के द्वार तक खींच लाने का श्रेय इमीलाइन पैंक-हर्स्ट को ही है। और इंग्लैंड के इस आंदोलन के परिणामों का प्रभाव चूंकि

अमेरिका, यूरोप, एशिया के सभी देशों पर पड़ा, इसलिए लेडी पैंकहर्स्ट को इंग्लैण्ड के 'नारी-मुक्ति-आंदोलन' की नेत्री के साथ 'विश्व के नारी-मुक्ति आंदोलन' की नेत्री के रूप में भी मान्यता दी गई है। भारत में महिला-मताधिकार-आंदोलन का सूत्रपात करनेवाली श्रीमती मार्गरेट कज़िन्स का प्रशिक्षण भी आयरलैंड और इंग्लैंड में लेडी पैंकहर्स्ट के नेतृत्व में ही हुआ था। यह बात अलग है कि गांधीजी द्वारा नारी-स्वातन्त्र्य की आवाज़ और स्वराज्य आंदोलन में स्त्रियों को भागीदार बनाए जाने की पृष्ठभूमि में यहां सफलता अपेक्षाकृत शीघ्र मिली।

इमीलाइन पैंकहर्स्ट का जन्म १४ जुलाई, १८५८ को मानचेस्टर में हुआ। पेरिस के इकोल नारमेल स्कूल में पढ़ते समय ही वे लड़कियों के अधिकारों में रुचि लेने लगी थीं। वहीं हेनरी रोचेकोर्ट की पुत्री के प्रभाव में भी आईं। फिर १८७९ में जब उनका विवाह एक बैरिस्टर रिचार्ड मारडसन पैंकहर्स्ट से हुआ तो उनके लिए रुचि का कार्यक्षेत्र खुल गया। श्री पैंकहर्स्ट महिला-मताधिकार संघर्ष के वकील थे। 'मैरिड वूमेन एक्ट' के मामलों में पति की सहायता कर इमीलाइन ने बहुत कुछ जान-समझ लिया। कुछ समय मानचेस्टर की 'वूमेन सफरेज कमेटी' की मेम्बर के नाते कार्य करने के अलावा उन्होंने १८८६ में लन्दन के माचिस कारखाने की मज़दूर स्त्रियों की हड़ताल का नेतृत्व भी किया था। १८८९ में 'वूमेन फ्रेंचाइज़ लीग' की स्थापना में योग दिया। फिर लिबरल पार्टी की महिला-मताधिकार प्राप्ति में असफलता को देखकर १८९२ में लिबरल पार्टी छोड़कर स्वतन्त्र मज़दूर पार्टी की सदस्या बन गईं। फिर १८९३ में इंग्लैण्ड से मानचेस्टर लौटकर उन्होंने पांच साल तक 'पूअर ला' का नेतृत्व किया।

१८८९ में श्री पैंकहर्स्ट की मृत्यु के बाद इमीलाइन पैंकहर्स्ट के जीवन में नया मोड़ आया। कुछ समय तक उन्हें जीवन-मृत्यु आंकड़ा रजिस्ट्रार के कार्यालय में नौकरी भी करनी पड़ी, लेकिन प्रचार कार्यक्रमों की व्यस्तता के कारण नौकरी छोड़ पूरी तरह कार्य-क्षेत्र में उतर आईं। १९०३ में 'वूमेन सोशल-पोलीटिकल पार्टी' नाम से एक निर्दलीय महिला-संस्था की स्थापना कर उन्होंने आंदोलन का कार्य तेज़ कर दिया। तब तक दोनों पुत्रियां क्रिस्टाबेल और सिल्विया भी मां का हाथ बंटाने सामने आ गईं थीं।

महिला-मताधिकार का यह आंदोलन इंग्लैण्ड में वर्षों से चलाया जा रहा था। प्रसिद्ध दार्शनिकों और राजनैतिज्ञों की सहानुभूति भी इसके साथ थी, पर इंग्लैण्ड का अनुदार समाज किसी भी परिवर्तन को सहज स्वीकार करने के लिए तैयार न था। इसलिए आन्दोलन बहुत धीमी गति से आगे बढ़ता रहा था। गांव-गांव, घर-घर में प्रचार होता। स्त्रियों के मज़बूत संगठन खड़े होते, पर बिल जब

भी संसद में आता, लौटा दिया जाता। लेडी पैंकहर्स्ट ने महसूस किया कि शांतिपूर्ण सतत प्रयत्नों से यह बिल पास नहीं हो सकेगा। उन्होंने घोषणा की, 'मताधिकार तुरन्त चाहिए' और आंदोलन में गति ले आई। 'वूमेन सोशल-पोलीटिकल पार्टी' की सदस्याएं संसद् सदस्यों पर प्रभाव डालने में जुट गईं। १९०४ में कुछ सफलता मिली। बिल के पक्ष में ज़ोरदार भाषण हुए पर बिल पास फिर भी न हो सका। स्त्रियों को मताधिकार देने के बारे में कुछ सदस्यों ने हास्यास्पद बातें भी कीं, कि इस तरह तो वोट मांगने. हमें स्त्रियों के पास भी जाना पड़ेगा, जो बहुत अपमानजनक लगेगा।

इसके बाद तो इस प्रश्न को स्त्रियों के मानापमान का प्रश्न बनाकर लेडी पैंकहर्स्ट ने उसे ज़ोर-शोर से उठाया। आंदोलन में उग्रता और हिंसा भी प्रविष्ट हो गई। पहले 'खिड़की तोड़' आंदोलन चला, फिर 'प्रापर्टी तोड़'। संसद् सदस्यों पर अंडे और शीशे भी फेंके गए। अनेक स्त्रियों को कारावास का दण्ड भोगना पड़ा। मीटिंग, जलूस, प्रदर्शन, प्रतिनिधिमण्डल, हस्ताक्षर-अपीलें, धरने, बायकाट और हिंसक प्रदर्शन। पूरे आन्दोलन में एक तूफान आ गया। शांति-भंग के आरोप में लेडी पैंकहर्स्ट और उनकी पुत्रियां कई बार जेल गईं। एक बार लायड जार्ज हाउस, वाल्टन में बम केस के बाद उन्हें तीन साल की सश्रम कड़ी सज़ा भी दी गई, पर जनता के हस्तक्षेप से तीन हफ्ते में ही छूटकर बाहर आ गईं। इस बीच उन्होंने इंग्लैण्ड के बाहर फ्रांस और अमेरिका के दौरे कर वहां भी यह हवा पूरे ज़ोर-शोर के साथ फैला दी। चारों ओर से उनके आन्दोलन को समर्थन मिलने लगा। इंग्लैंड लौटकर बार-बार गिरफ्तार होतीं, फिर जनमत के दबाव से छूट जातीं। जनमत के इस समर्थन से अपनी सफलता में उनका विश्वास और भी दृढ़ हो गया। उनकी सहायक सदस्याओं के साथ अनेक बार बेरहमी का व्यवहार किया गया। कई बार उन्हें बुरी तरह अपमानित होना पड़ा। आंदोलन को कुचलने के सभी कुचक्र रचे गए, संस्था में फूट डाली गई, पर लेडी पैंकहर्स्ट इस सबसे ज़रा भी विचलित नहीं हुईं। दूने उत्साह से आगे बढ़ती गईं।

तभी आया द्वितीय महायुद्ध। और लेडी पैंकहर्स्ट पुरुष-महिला की प्रतिद्वंद्विता छोड़ देश-कार्य में जुट गईं। यह समय महिला-मताधिकार की आवाज़ उठाने का नहीं, देश का बचाने का था। कोई भी सच्चा देशभक्त और समाजसेवी उससे पीछे नहीं हट सकता था। एक सच्ची सेविका के नाते लेडी पैंकहर्स्ट भी अपनी सारी महिला-सेना के साथ जवानों की भरती और दूसरे देश-कार्यों में लग गईं। असाधारण वक्ता थीं ही। उनका संगठन भी सशक्त था। प्रभाव अच्छा पड़ा और बहुत अच्छा कार्य उन्होंने कर दिखाया। पुरुष मोर्चों पर जाते, स्त्रियां

दफ्तरों में, खेतों में, कारखानों में उनका स्थान ग्रहण करतीं। घायलों की सेवा-

शुश्रूशा करतीं। उनके लिए खाद्य सामग्री और अन्य साधन जुटातीं। अन्त में जब इंग्लैंड विजयी हुआ तो अपनी इस आधी शक्ति के त्याग, बलिदान, सेवाकार्य को कैसे भूल सकता था। लेडी पैंकहर्स्ट के आंदोलन के प्रति पुरुषों की सहानुभूति सक्रिय हो उठी और १६१८ में ३० वर्ष से अधिक उम्र की स्त्रियों को मत देने का अधिकार मिल गया। आगे चलकर १६२२ में यह पावन्दी भी हटा ली गई और २१ वर्षीय वयस्कता के आधार पर पुरुषों के समान ही स्त्रियों को भी वोट देने का अधिकार मिल गया। महिला-मताधिकार आंदोलन के साथ इसे लेडी पैंकहर्स्ट की निजी सफलता भी माना गया।

यह मुख्य काम निबटाने के बाद लेडी पैंकहर्स्ट ने रूस की यात्रा की। कनाडा में कुछ समय विश्राम किया। फिर १६२५ में वापिस इंग्लैंड लौटकर पुनः राजनीति में रुचि लेने लगीं। १४ जून, १६२८ को लंदन में जब उनकी मृत्यु हुई, उस समय भी वे ह्वाइट चेपल सेंट जार्ज से अनुदार दल की उम्मीदवार नामज़द थीं।

इमीलाइन पैंकहर्स्ट तीन बच्चों की मां थीं। लड़का १६१० में ही चल बसा था। दोनों लड़कियां आंदोलन में बराबर उनके साथ थीं। क्रिस्टाबेला बाद में उनकी राजनीतिक उत्तराधिकारिणी बनी। सिल्विया से रूसी क्रांति का समर्थन किया और इथियोपिया के हितों का नेतृत्व। श्री पैंकहर्स्ट भी जब तक ज़िन्दा रहे, महिला-हितों की वकालत करते रहे। इस तरह पूरा परिवार ही जनतन्त्रीय और महिला-हितों की भेंट चढ़ गया।

सन् १६६८ में जब इंग्लैण्ड में 'नारी-मुक्ति-आन्दोलन' की स्वर्णजयन्ती मनाई गई तब आंदोलन की तरह इस जयन्ती की गूंज भी विश्व के कोने-कोने तक फैली थी। लेडी पैंकहर्स्ट व उनके कार्य पर सारे संसार के पत्रों में लेख और संपादकीय लिखे गए और उन्हें श्रद्धांजलियां अर्पित की गईं। आज जुर्दान, कुवैत, उत्तरी साइबेरिया, सऊदी अरब, यमन और स्विट्ज़रलैंड को छोड़कर लगभग सभी देशों में स्त्रियों को समान मताधिकार प्राप्त हैं। इस समानाधिकार और स्वतन्त्रता की खुली हवा में सांस लेने वाली विश्व-नारी लेडी पैंकहर्स्ट के महान त्याग और बलिदान को क्या कभी भूल सकेगी!
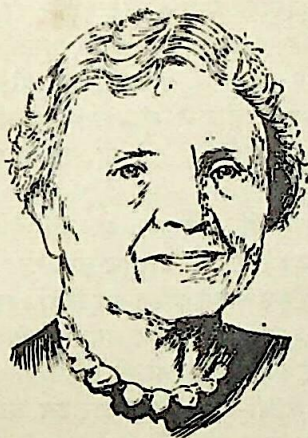
अंध-बधिर संसार की मसीहा

हेलन केलर

हेलर केलर—एक नाम, जो अंधेरे से उजाले की ओर बढ़ते कदमों का प्रतीक बन गया। सारे मूक-अंध-बधिर संसार में आस्था की ज्योति-किरणें बांटने वाला एक मसीहा कहलाया। अस्सी वर्ष की अवस्था में भी जिसने दस घण्टे प्रतिदिन काम कर रोशनी बांटने का यह यज्ञ अपनी अन्तिम सांस तक चलाए रखा। आशा की मशाल थामे जिसके सबल हाथ न कभी रुके, न झुके। कठिन से कठिन घड़ियों में भी जिसकी अन्तरात्मा झूम-झूमकर मानवता का अमर संगीत सुनाती रही। और यही संगीत 'बाधा पर साहस की विजय' के सन्देश के साथ जिसने हर बाधित या असहाय के कानों तक पहुंचाने का जीवन-भर भगीरथ प्रयत्न किया।

इस नाम से विश्व का हर प्रबुद्ध नागरिक परिचित है।

२७ जून, १८८० को अलाबामा के एक अमेरिकी परिवार ने एक स्वस्थ व

सुन्दर पुत्री के जन्म की खुशी मनाई। शैशव से ही इस बालिका ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय दिया। छः महीने की होकर बोलने लगी थी और अपनी पहली वर्षगांठ पर ही चलने भी लगी थी। पर उसके भाग्य में कठोर परीक्षाएं लिखी थीं। राजकुमारी-सी सुन्दर यह बालिका १६ महीने की अवस्था में एक रहस्यमय बीमारी से घिर गई और फिर उठी तो अपनी देखने व सुनने की शक्ति खोकर ही। इस उम्र तक जो शब्द वह सीख पाई थी, आगे और न सीख पाने के कारण वे भी भूल गई और अंधी-बहरी होने के साथ वाणी से भी मौन हो गई। अपनी सुन्दर व प्रतिभाशाली लाड़ली बिटिया की यह दशा देखकर माता-पिता को गहरा आघात लगा।

कुछ वर्ष इसी निराशा में बीत गए। छः वर्ष की आयु तक हेलन केलर का संसार इसी तरह निःशब्द और अंधकारपूर्ण बना रहा। पर उसकी प्रतिभा पर शारीरिक बाधा के इस अंकुश ने उसे कुंठित कर दिया। स्वस्थ और चंचल बालिका हठी, ज़िद्दी, उच्छृंखल, ध्वंसकारी और लगभग आत्मघाती बिगड़ी लड़की के रूप में परिवर्तित हो गई, जिसे संभालना भी कठिन हो गया। और कोई चारा न देख मन से रोगी और आंखों-कानों से लाचार इस बालिका को दुहरे अंधेरे से निकालने के लिए माता-पिता उसे टेलीफोन के आविष्कर्ता डा० बेल के पास ले गए। उनकी राय से पिता आर्थर केलर ने बधिरों को शिक्षा देने वाले बोस्टन के परकिन्स संस्थान से सम्पर्क कायम किया। अन्ततः संस्था की ओर से एक शिक्षिका कुमारी अन्नी सलीवान को हेलन केलर के पास भेजने की व्यवस्था की गई।

यह १८८७ की बात है। इसके बाद अगले कुछ वर्षों में कुमारी सलीवान ने किस प्रकार इस उच्छृंखल लड़की को वश में कर उसे कैसे वाणी प्रदान की, मानव जाति के इतिहास में यह एक अत्यन्त रोमांचकारी घटना है। इसीलिए तो हेलन केलर के साथ उनकी शिक्षिका का नाम भी बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है। कुमारी सलीवान ने जिस लगन, धैर्य और कठिन साधना से गूंगों, बहरों और अंधों की शिक्षा के लिए एक नवीन व्यावहारिक-मनोवैज्ञानिक प्रणाली का आविष्कार किया, वह न जाने कितनों की प्रेरणा बन गई।

कठोर और ज़िद्दी हेलन केलर को संभालना और सिखाना कोई सरल काम न था। 'न' तो वह कभी सहन नहीं करती थी, उसपर दयाभाव दिखाकर माता-पिता ने उसे लाड़ में और बिगाड़ रखा था। तनिक भी विरोध करने पर वह पागलपन की सीमा तक उतर आती थी। पर अपनी छात्रा की सारी कमज़ोरियों को मनोवैज्ञानिक ढंग से समझते हुए कुमारी सलीवान ने पहले दिन से ही उसे हाथ पर उंगली से अक्षर लिख-लिखकर पढ़ाना आरम्भ कर दिया था। कुछ ही

महीनों में हेलन ने ८०० शब्द सीख लिए और उन्हें ब्रेल लिपि से लिखना सीख गई।

फिर एक दिन चमत्कार हो गया। हेलन सवेरे-सवेरे नल के नीचे मुंह धो रही थी। उसने चुल्लू में पानी लिया और इशारे से जानना चाहा कि यह क्या है···? सलीवान ने हथेली पर उंगली घुमाकर लिखा 'वाटर'। फिर उसने हेलन के हाथ में वर्तन थमा दिया, उसे नल के नीचे रखा और नल पूरे ज़ोर से खोल दिया। पानी तेज़ी से निकलकर हेलन की हथेली को ठण्डा स्पर्श देने लगा। सलीवान ने दूसरी हथेली पर लिखा, वा···ट···र। हेलन के शरीर में अद्भुत कम्पन हुआ। वर्तन हाथ से छूट गया। सलीवान के कण्ठ पर उंगलियां रखकर वह कण्ठ के कम्पन और वाटर शब्द के उच्चारण को परस्पर सम्बद्ध करने में सफल हो गई। अध्यापिका के कण्ठ से उंगलियां उठा उसने ज्यों का त्यों अपने होठों पर रखीं और होठों में वैसी ही हरकत लाने का प्रयत्न किया। तभी 'व-व-वाटर'—छात्रा के कण्ठ से पहला बोल फूट पड़ा। सचमुच एक चमत्कार था यह, और कुमारी सलीवान की अद्भुत विजय। यही हेलन केलर की वास्तविक शिक्षा का प्रारम्भ भी था।

फिर सलीवान हेलन को बोस्टन के होरेसमान मूक-बधिर स्कूल की प्रिंसिपल सारा फुलर के पास ले गई। फुलन ने हेलन केलर की जिह्वा घुमाकर 'आई' का उच्चारण सिखाया। थोड़ी देर में 'आई' शब्द फूट पड़ा। फिर दुहराया। फिर 'मिस सी मी'···'इट इज़ वार्म'···'आई एम नाट डम्ब नाउ' और इसी तरह राह खुलती गई। कुमारी हेलन केलर की ग्रहण-शक्ति, बुद्धि, प्रतिभा और कुमारी सलीवान की सूझ-बूझ से उत्पन्न एक कमाल था यह।

सलीवान के संसर्ग ने हेलन केलर में सबसे पहले जो चीज़ उत्पन्न की, वह था आत्मविश्वास। इसीके बल पर वे हमेशा आगे बढ़ती चली गईं। एक बार अपनी एक मित्र को उन्होंने पत्र में लिखा, "बुनियादी तौर पर मैं यह अनुभव करती हूं कि मैं अपने भीतर पांचों ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग कर रही हूं।" अपनी बोलचाल में भी वे प्रायः कहा करती थीं, 'मैं देख रही हूं।' वे लिखती हैं, "अपनी सभी ज्ञानेन्द्रियों का प्रयोग करने वाले मुझे दया की दृष्टि से देखते हैं। उन्हें शायद मालूम नहीं कि मुझे उनकी दया की ज़रा भी ज़रूरत नहीं है। मेरे मार्ग में अंधेरा है, ऐसा भले ही लगता हो, पर मैं कहना चाहती हूं कि मेरे हृदय में हमेशा एक चमत्कारपूर्ण ज्योति प्रकाशमान है। जीवन के पथ पर प्रकाश आंखों से नहीं, आस्था से झरता है।" इस आत्मविश्वास और इस आस्था से ही तो वे असंभव को संभव बना पाईं।

कुमारी सलीवान ने उनके अन्तरात्मा की खिड़कियां खोल दी थीं। उन्हीं आंखों से वे देखती थीं और उन्हीं कानों से विश्वव्यापी अमर संगीत की उन्नायक धुनें सुनती थीं। मनुष्य की आवाज़ वे सुन नहीं पाती थीं, पर उसके कण्ठ को छूकर, उसके थिरकते होठों पर उंगलियां रख, ध्वनि-तरंगों के माध्यम से उस आवाज़ को पहचान लेती थीं। इसी तरह स्पर्श व घ्राण शक्ति विकसित करके उन्होंने स्वयं भी बोलना सीखा था।

दस वर्ष की आयु में हेलन केलर को न्यूयार्क के एक स्कूल में भरती कर दिया गया था। वहां भी एक-एक शब्द पर मेहनत करने वाली शिक्षिका साथ थी। शिक्षिका और छात्रा की मेहनत सफल हुई। अंग्रेज़ी के ज्ञान से सन्तोष न हुआ तो हेलन केलर ने फ्रांसीसी, जर्मन और लैटिन भाषाओं पर अच्छा-खासा अधिकार प्राप्त कर लिया। सोलह वर्ष की आयु में उन्होंने हावर्ड विश्वविद्यालय के महिला कालेज में प्रवेश लिया और आठ वर्ष की कठिन साधना के बाद १९०४ में बी० ए० (आनर्स) की उपाधि प्राप्त की। यह उनके जीवन की एक बड़ी विजय और रोमांचक घटना थी।

शिक्षा चल रही थी। इस बीच समाचारपत्रों में उनकी उपलब्धियों की कहानियां भी छप रही थीं। हेलन केलर की सीखने की कला और तरक्की के समाचारों ने हज़ारों लोगों का ध्यान आकर्षित किया, जिनमें महारानी विक्टोरिया और यूनान की साम्राज्ञी के भी नाम हैं। महारानी विक्टोरिया उन्हें 'अद्भुत बाल प्रतिभा' और 'बोस्टन का आश्चर्य' कहा करती थीं। देश-भर में उन्हें सर्वाधिक तीक्ष्ण बुद्धि वाली बालिका मान लिया गया और कुमारी सलीवान को इसका श्रेय देते हुए उनके प्रति श्रद्धा व्यक्त की जाने लगी। ग्रेजुएट होने से पूर्व ही १९०२ में हेलन केलर की पुस्तक 'मेरी जीवन कहानी' प्रकाशित हो चुकी थी। यह आत्मकथा संसार की अनमोल कृतियों में से एक है, जिसका ५० भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। हेलन केलर अपनी अध्यापिका की भी जीवनगाथा लिखना चाहती थीं, पर द्वितीय विश्व-युद्ध में घायल नेत्रहीन सैनिकों की सेवा में व्यस्त हो जाने से नहीं लिख पाईं। इसके बाद तो समाज-कल्याण का उनका काम फैलता ही चला गया।

स्वावलम्बन और समाजसेवा की ओर कदम उन्होंने अपने प्रारंभिक शैक्षणिक काल में ही बढ़ा दिए थे। उन्होंने देखा कि कुमारी सलीवान कितनी निष्ठा से उनके लिए कष्ट उठा रही हैं तो निश्चय किया, 'मैं शीघ्र स्वावलंबी बनूंगी।' और उन्होंने दोनों ही ध्येय अपने सम्मुख रख लिए—आर्थिक स्वावलंबन और संसार-भर के बाधितों की सेवा। बारह वर्ष की आयु में ही उन्होंने विकलांग

बच्चों के लिए एक चाय-पार्टी का आयोजन कर २०० डालर का चन्दा इकट्ठा

कर लिया था। तेरह वर्ष की आयु में चन्दे से धन एकत्र कर अपने नगर में अंधों के लिए एक पुस्तकालय की स्थापना की। एकपत्रिका ने उनके एक लेख पर ५ हज़ार डालर का पुरस्कार दिया और इस राशि से उन्होंने अमेरिकी अंध-निधि की स्थापना की। फिर तो वे निरन्तर लिखती रहीं और लेखन से प्राप्त धन को अंधमूक-बधिर-कल्याण कार्यों में खर्च करती रहीं।

हेलन केलर ने ६ बार समूचे विश्व का भ्रमण किया। अपनी अन्तिम यात्रा के समय उनकी आयु ७४ वर्ष थी। उनकी भारत यात्रा के समय जो धन एकत्रित हुआ, उससे यहां हेलन केलर ट्रस्ट की स्थापना हुई। जापान-यात्रा के समय वहां ३ करोड़ ५० लाख येन राशि एकत्र हुई, जिसे उन्होंने वहीं के नेत्रहीनों के लिए दे दिया। बाधित-कल्याण-कार्यों के लिए फण्ड जमा करने के लिए वे स्कूलों, कालेजों, संस्थाओं से लेकर थिएटरों, भाषण-गृहों और हालीवुड तक गईं। एक बार पैसे के अभाव में हेलन केलर और उनकी अध्यापिका ने एक नाट्य दल के साथ समूचे अमेरिका का दौरा किया। अपने जीवन पर आधारित 'मिराकल वर्कर' मूक फिल्म में भी उन्होंने स्वयं भाग लिया था।

कुमारी केलर ने अमरीका में नेत्रहीन कल्याण के लिए कई कानून बनवाए। उनकी प्रेरणा से अनेक नेत्रहीन संगीतज्ञ, प्रशासक, पर्वतारोही और सीनेटर बने। युद्ध-काल में अंग-भंग घायलों की सेवा करते उन्हें ढाढस बंधातीं, 'कभी मत सोचो कि तुम असमर्थ हो। सीधे खड़े होकर संसार का सामना करो। अपंग होना दोष नहीं है, उसे सह न पाना दोष है।' इन प्रेरक वाक्यों से संसार-भर के अपंगों ने प्रेरणा पाई। आज यदि नेत्रहीनों में शिक्षित व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जा रही है तो उसका बहुत कुछ श्रेय इस प्रेरणा को ही है।

उनकी वाणी ही नहीं, पूरा जीवन-क्रम ही एक प्रेरणा, एक उदाहरण रहा। ८०-८२ वर्ष की आयु तक वे दस घण्टे प्रतिदिन नियमित रूप से काम करती रहीं। प्रत्येक पत्र का उत्तर वे अपने ब्रेल टाइप राइटर पर स्वयं टाइप करती थीं। साहित्य की महत्त्वपूर्ण कृतियों को उन्होंने मेहनत से पढ़ा और नेत्रहीनों के लिए ब्रेल-लिपि में लिखा। एक साथ छः मासिक ब्रेल-पत्रिकाओं का कार्य उन्होंने संभाल रखा था। आंख-कान रहित होकर भी उन्हें संगीत और मूर्तिकला से लगाव था। ध्वनि के स्पंदन और स्पर्श से ही वे इस अलौकिक सौंदर्य का पान कर लेती थीं। उनका समूचा जीवन देश-काल की सीमा लांघ मानवता, सेवा और पवित्रता का प्रतीक बन गया। इसीलिए तो अपने जीवन में उन्हें राष्ट्रपति ट्रूमैन, अलबर्ट श्वाइत्ज़र, मार्क ट्वेन, बर्नार्ड शा, आइन्स्टीन, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, जवाहरलाल

नेहरू जैसे व्यक्तियों से स्नेह-सहयोग और सम्मान पाने का सौभाग्य मिला। एक बार चेहरे पर हाथ फेरकर जिसे वे पहचान लेती थीं, उसे फिर कभी नहीं भूलती थीं। उनकी असीम स्पर्शशक्ति और आंतरिक चेतना का यह एक प्रमाण है। मार्क ट्वेन ने एक बार उनके बारे में कहा था, "हेलन केलर जोन आफ आर्क के बाद संसार की सर्वश्रेष्ठ महिला हैं।" अनेक विश्वविद्यालयों ने उन्हें 'आनरेरी डाक्टरेट' की डिग्रियां प्रदान कीं। अनेक राज्यों ने उन्हें 'सर्वोच्च नागरिक' के सम्मान से अलंकृत किया। संसार-भर के बाधितों के लिए उनका नाम सांत्वना और आशा की ज्योति प्रदान करने वाला बन गया।

२७ जून, १९६८ को संसार उनका ८८वां जन्म दिन मनाने जा रहा था कि उसके २७ दिन पूर्व ही, १ जून को हृदय-गति रुक जाने से उनका देहान्त हो गया। अन्तिम चार वर्ष वे बीमार चलीं, जिनमें से दो वर्ष पूरीतरह बिस्तर पर ही बीते। उनकी मृत्यु का समाचार विश्व के हर कोने में अनमनेपन के साथ सुना गया। 'मानव जाति की महानतम मित्र' कहकर स्थान-स्थान पर उन्हें श्रद्धांजलियां अर्पित की गईं, उनपर लेख, स्तम्भ और संपादकीय लिखे गए और उनकी मृत्यु को संसार की महान क्षति माना गया। वे इस युग की एक उपलब्धि थीं, इसलिए मर नहीं सकतीं। अपने कर्म और सन्देश को लेकर सदैव जीवित रहेंगी। संसार-भर के बाधित व्यक्तियों को स्वावलम्वी बनाना ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है।

सुविख्यात अंग्रेज़ी उपन्यासकार दो बहनें

शार्लें ब्रोंटी और एमिली ब्रोंटी

'जेन आयर' प्रकाशित हुआ तो उसमें वर्णित इंग्लैण्ड के कन्ट्री-स्कूलों की दुरवस्था और विद्यार्थिनियों की दर्दनाक मृत्यु के चित्रण ने सारे इंग्लैण्ड को झकझोर कर रख दिया। लेखक का नाम था—सी० वेल। लोग सी० बेल नाम के इस नये लेखक को जानने के लिए उत्सुक हो उठे।

फिर आया 'वुदरिंग हाइट्स'—एक आश्चर्यजनक उपन्यास। चारों ओर इसउपन्यास की धूम मच गई। इसके लेखक ई० वेल को भी लोग न जानते थे, इसलिए जानना चाहते थे।

इन्हीं दिनों प्रकाशित हुआ, ए० बेल के नाम से एक और उपन्यास—'एग्नीज़ ग्रे'। यद्यपि इस उपन्यास ने इतना तहलका नहीं मचाया, पर उपन्यासों की पृष्ठ-भूमि की समानता देखकर इससे तरह-तरह की अटकलें लगाई जाने लगीं। ऐसी ही एक अटकलबाज़ी पर एक प्रकाशक ने प्रचारित कर दिया कि इन तीनों

उपन्यासों का लेखक एक ही व्यक्ति होना चाहिए। ये अलग-अलग नाम सही नहीं हैं।

नाम सचमुच सही नहीं थे। पर तीनों कृतियों का एक लेखक है, यह बात भी सही नहीं थी। 'जेन आयर' की लेखिका थीं शार्लें ब्रोंटी, 'वुदरिंग हाइट्स' की एमिली ब्रोंटी और 'एग्नीज़ ग्रे' की एनी ब्रोंटी—तीनों बहनें, और उपन्यास थे—तीनों के साझे दुःखों की अलग-अलग रंग में रंगी एक साझी दास्तान।

तीनों पुस्तकों का एक लेखक होने की खबर प्रसारित होते ही शार्लें और एमिली ब्रोंटी लन्दन गईं। प्रकाशक के कार्यालय में उसीका पत्र दिखाकर जब वे अन्दर दाखिल हुईं तो काले गाउन में इन साधारण-सी घरेलू ढंग की युवतियों को देखकर प्रकाशक दंग रह गया—ये उपन्यास और ये लेखिकाएं! पर यह रहस्योद्घाटन फिर भी प्रकाशक और उनके बीच तक ही सीमित रहा। उपन्यास पुरुषों के छद्म नाम से प्रकाशित हुए थे। पूरी तरह स्थापना के पहले वे किसी भी शर्त पर सामने आने को तैयार न थीं।

फिर शार्लें ब्रोंटी का अगला उपन्यास आया—'शर्ली'। यह छोटी बहन एमिली पर आधारित था और उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ था। उपन्यास की पृष्ठभूमि और शैली देखकर श्रीमती गासकेल नाम की एक जागरूक महिला ने, जिसने बाद में शार्लें ब्रोंटी की जीवनी और इस परिवार के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा, 'जेन आयर' की लेखिका को पहचान लिया। उसने इस बात को विज्ञापित कर दिया और देखते-देखते शार्लें ब्रोंटी—नाम सामने आकर लोगों की जुबान पर चढ़ गया। लोग दूर-दूर से उसके गांव हेवर्थ आने लगे। शार्लें की छुपी प्रतिभा ख्याति, धन, सम्मान से अभिनन्दित की जाने लगी। एमिली का 'वुदरिंग हाइट्स' भी इस बीच खूब चर्चित हो चुका था और लोग शार्लें की छोटी बहन के रूप में इस असाधारण प्रतिभा को भी खूब पहचान गए थे। आज तो इस कृति की गणना विश्व के प्रथम कोटि के उपन्यासों में होती है। उस समय यद्यपि 'जेन आयर' की ज़्यादा धूम थी, 'वुदरिंग हाइट्स' बाद में 'जेन आयर' से भी बाज़ी मार ले गया।

एमिली रही नहीं थी। एनी उसके पहले ही चली गई थी। बच रही थी शार्लें। लेखिका के रूप में ख्याति प्राप्त करने की अभिलाषा तीनों में प्रबल थी। पर जब अवसर आया तो अकेली शार्लें इसे पचा न पाई। अपने लन्दन-प्रवास में बड़े-बड़े लेखकों से मुलाकात करते वक्त वह घबड़ा जाती। सम्मानित होने पर नर्वस हो जाती। अपनी कृतियों की ज़रा कटु-आलोचना सुनती या पढ़ती तो उसकी आंखों में आंसू आ जाते। सामाजिक-साहित्यिक समारोहों में वह एक निहा-

यत असफल व्यक्ति सिद्ध हुई। इस सबका कारण था वही दुःखभरी साझी दास्तान, [illegible] दी, पर जो भुलाए न भूलती थी। यह दास्तान थी छः भाई-बहनों और माता-पिता, मौसी वाले एक बड़े परिवार की, जिनमें से केवल शार्लें ही बच रही थी। यह दास्तान थी उन स्थितियों की जिन्होंने उसके पांचों प्यारे-प्यारे प्रतिभासम्पन्न भाई-बहनों को लील लिया था।

शार्लें का जन्म २१ अप्रैल १८१६ को और उससे छोटी बहन एमिली का ३० जुलाई, १८१८ को हुआ था। शार्लें और एमिली के पिता रेवरेण्ड पैट्रिक ब्रोंटी चर्च के पादरी थे। हेवर्थ नामक छोटे-से गांव में उनकी नियुक्ति हुई थी। जंगली वातावरण। बच्चे जंगली पेड़-पौधों से खेलते। आस-पास के स्वच्छन्द, जंगली लोगों के आतंक से पहले के सभी पादरी वहां से डरकर भाग गए थे। पिता ने इसी स्थल को अपनी कर्मभूमि बनाया। वे प्रार्थना, उपदेश के अलावा बीमारी में लोगों का इलाज भी करते थे। बच्चों को बहुत कम समय दे पाते थे, पर बाधा भी न देते थे। उनका स्वतन्त्र विकास ही उन्हें प्रिय था। सभी बच्चे आपस में मस्त रहते या जंगल में दूर-दूर तक अकेले घूमने निकल जाते। छोटी आयु में ही प्रकृति निरीक्षण, स्वतन्त्र अध्ययन-चिन्तन और परस्पर विचार-विमर्श की अनुभूतियों ने उन्हें समय से पूर्व ही प्रौढ़ बना दिया था।

हेवर्थ की ठण्डी, सीली जलवायु। कठिन जीवन। जंगली जानवरों और जंगली लोगों का आतंक। मां इस माहौल में शीघ्र ही बीमार पड़ गई। सबसे बड़ी बहन मेरिया तब सात वर्ष की थी। डेढ़ वर्ष बाद मां की मृत्यु हो गई। घर में एक पुस्तकालय और अध्ययन-कक्ष था। बच्चे उसमें रहते, पढ़ते और निहायत उदास, ठण्डे वातावरण में परस्पर फुसफुसाकर बातें करते। नन्हीं मेरिया उन्हें अखबार की खबरें और इतिहास की बातें पढ़कर सुनाती। वह सबसे बड़ी जो थी। नौ-दस वर्ष की यह प्रौढ़ा घर भी संभालती, भाई-बहनों को भी, और उन्हें पढ़ाती भी। धीरे-धीरे सभी बच्चे पुस्तकों और समाचार पत्रों में दिलचस्पी लेने लगे। घर में जो देखते, बाहर जो देखकर आते या पुस्तक में जो पढ़ते, उसपर गम्भीरता से परस्पर चर्चाएं किया करते। न वातावरण सामान्य था, न ये बच्चे ही। भावुकता, कल्पनाशीलता और अभिव्यक्ति क्षमता उन्हें पिता से विरासत में मिली थी और प्रकृति-विचरण, स्वयंनिर्भरता, उदासी और निराशा परिवेश से। छोटी से छोटी घटना उनके लिए उतना ही महत्त्व रखती थी जितना कि अन्य बच्चों के लिए खेल। पिता अपने काम में व्यस्त रहते या फुरसत में उनसे बराबर के स्तर पर बात करते। बच्चों का सामान्य ज्ञान देखने के लिए उनसे प्रश्न पर प्रश्न करते और अधिक ज्ञान-प्राप्ति के लिए उन्हें उकसाते। विचार-

विनिमय के लिए भाई-बहन ही थे, पढ़ने के लिए पिता की लाइब्रेरी और घूमने के लिए जंगल। दूर-दूर तक न कोई उनका मित्र था, न सम्बन्धी। हां, बाद में

उनकी देखभाल के लिए घर में मौसी आ गई थी, पर बच्चों ने उसे कभी पसन्द नहीं किया।

छः भाई-बहनों में शार्ले का नम्बर तीसरा था, एमिली का चौथा, एनी का पांचवां। सबसे छोटा भाई था—ब्रेनवेल। चारों बड़ी बहनें, जब क्लर्जी 'डाटर्स स्कूल' कोवन्सब्रिज में पढ़ने भेजी गईं तो उस समय शार्ले आठ वर्ष की थीं, एमिली सात की। स्कूल में कुव्यवस्था और गन्दगी का साम्राज्य था। दोनों बड़ी बहनें बीमार होकर मर गईं। शार्ले और एमिली भी बीमार रहने लगीं। तब उन्हें वापस बुला लिया गया। शार्ले ब्रोंटी के 'जेन आयर' में इसी स्कूल की दुर्व्यवस्था और दर्दनाक स्थितियों में हेलेन बर्न की मृत्यु का करुण चित्रण है जो उसकी बहनों पर आधारित है। घर लौटने पर अब मेरिया की जगह शार्ले सबसे बड़ी थी। उसे ही घर और भाई-बहन संभालने पड़ते।

शार्ले बहुत ही साधारण सूरत-शक्ल वाली, डरपोक, खामोश, चुप, भावुक और नर्वस लड़की थी। अक्सर घण्टों चुप रहकर सोचती रहती और कभी-कभी असाधारण रूप से बातूनी हो उठती। गाय-जैसे निरीह प्राणी से भी उसे डर लगता था। पर नैतिक साहस उसीमें सबसे ज़्यादा था। इसके विपरीत एमिली सुन्दर और खुशमिजाज थी। कुछ अधिक साहसी भी। बारह-तेरह वर्ष की आयु तक दोनों बहनें काफी लिखने लगी थीं। उनकी कापियां कविताओं और नाटक-कहानियों से भरी रहतीं, जिनमें किशोर मन के दिवास्वप्नों की झलक मिलती है। छोटी बहन एनी और भाई ब्रेनवेल भी लिखते थे। कभी वे अपनी लिखी चीज़ें एक-दूसरे को दिखाकर उनपर वाद-विवाद करते, कभी अलग छुपाकर रखते। बाहर से किसी निर्देशन या प्रोत्साहन का प्रश्न ही न था।

पन्द्रह वर्ष की आयु में शार्ले फिर एक स्कूल में पढ़ने भेजी गई, जो हेवर्थ से बीस मील दूर था। यहां के अच्छे वातावरण और कुछ अच्छे मित्रों की चर्चा भी उसके उपन्यास में मिलती है। कुछ समय बाद लौटकर फिर छोटे भाई-बहनों को पढ़ाना, दिवास्वप्न देखना, लिखना और हेवर्थ का एकाकी जीवन। लंबी पैदल यात्राएं, घंटों प्रकृति-निरीक्षण, ढेर-सा अध्ययन-चिन्तन और ढेर-सा लेखन। चित्रकला में भी अब इन बहनों की रुचि बढ़ चली थी और लेखन में ख्यात होने की महत्त्वाकांक्षा भी उभर आई थी। बीस वर्ष की आयु में शार्ले ने हिम्मत करके प्रसिद्ध कवि राबर्ट साउथे को पत्र लिखा और अपनी कविताएं भेजीं। दो महीने तक कोई उत्तर नहीं आया। फिर आया तो वह उपदेशों व चेतावनियों

से भरा एक निराशाजनक पत्र था। कवि ने केवल उसे ख्याति के लिए लिखने के

खतरों से आगाह किया था। भावुक शार्ले पर इस पत्र का गहरा असर हुआ। उसने चुनौती स्वीकार कर ली, और अगली रचनाएं फिर कवि के पास भेजीं। इस बार प्रभावित हो साउथे ने उसे अपने पास आमन्त्रित किया, जो शार्ले के लिए सम्भव न था, अतः मामला वहीं समाप्त हो गया। एमिली और ब्रेनवेल ने भी वर्ड्सवर्थ और कई अन्य साहित्यकारों को पत्र लिखे पर उन्हें उत्तर नहीं मिला। पिता को तो अपने बच्चों की इस महत्त्वाकांक्षा या लेखन की कोई जानकारी तक न थी।

अब शार्ले ने अपने भाई-बहनों की शिक्षा के लिए यार्कशायर में एक गवर्नेस के रूप में काम शुरू कर दिया। फिर इस काम को अपमानजनक समझकर उसने छोड़ दिया और अध्यापन में लग गई।—'जेन आयर' में एक गवर्नेस का भी ज़िक्र है जो अपने मालिक से प्रेम करती है पर शादी की सुबह ही उसे मालूम होता है कि वह पहले ही एक पागल औरत का पति है जिसे उसने एक कमरे में बन्द कर रखा है। अध्यापन के समय उसने एमिली को भी अपने पास बुला लिया कि उसे अच्छी शिक्षा दिला सके, पर वह शीघ्र बीमार पड़ गई और उसे घर वापिस भेज देना पड़ा। फिर कुछ समय बाद १४ दिसम्बर, १८४८ को वह इस संसार से चली ही गई। धन के अभाव में किसी भी बहन का इलाज नहीं हो सका। इसीलिए एनी और एमिली के ज़िन्दा रहते शार्ले ने योजना बनाई थी कि तीनो बहनें मिलकर अपना निजी स्कूल चलाएंगी, लेकिन इतने पैसे भी न थे। मौसी से सौ पौण्ड उधार लेकर जब वे बेल्जियम गईं तो उनके मन में फ्रेंच, इटैलियन आदि भाषाएं सीखकर अपना स्कूल चलाने की बात ही थी। अपनी प्रतिभा और अध्यापन द्वारा स्वयं निर्भरता के बल पर उन्होंने निर्धारित से आधे समय में ही भाषा-साहित्य में डिप्लोमा ले लिया। लेकिन स्कूल न खुलना था, न खुला। मौसी की मृत्यु हो गई। एनी और एमिली बीमार रहने लगीं, फिर बारी-बारी से चली गईं। भाई ब्रेनवेल पागलपन की ओर अग्रसर होने लगा। बाद में उसने आत्महत्या कर ली। पिता भी जा चुके थे। इस सारे दर्द को समेटे, हृदय पर एक गहरा आघात लिए शार्ले अकेली रह गई।

इस बीच एमिली, शार्ले और एनी की कविताओं का एक संयुक्त संकलन प्रकाशित हुआ था, जिसे १८४६ में उन्होंने स्वयं के खर्च पर छपाया था। इसपर भी सी, ई व ए बेल के पुरुष नाम हैं। प्रेस ने इस संकलन को कोई महत्त्व नहीं दिया। फिर शार्ले का 'द प्रोग्रेसर' उपन्यास भी कई प्रकाशकों के पास चक्कर काटकर लौट आया। एमिली का 'वुदरिंग हाइट्स' और एनी का 'एग्नीज़ ग्रे'

उपन्यास भी इसी काल में लिखे गए जो बाद में प्रकाशित हुए। 'दि प्रोग्रेसर' से निराश हो शार्लें ने अगला उपन्यास 'जेन आयर' बड़े प्रयत्न से लिखना शुरू किया। उसे लग रहा था कि इस बार वह अधिक अच्छा लिख रही है और यह अवश्य छपेगा। इसी तरह एमिली को भी अपने 'वुदरिंग हाइट्स' पर बड़ा भरोसा था, जो सत्य सिद्ध हुआ।

'जेन आयर' वापिस नहीं लौटा। सी० बेल के नाम से तीन भागों में प्रकाशित हो गया। पुस्तक का असाधारण स्वागत हुआ और लोग लेखक को जानने के लिए आतुर हो उठे। पिता को भी शार्लें ने उपन्यास व उसकी समीक्षा छप जाने पर ही बताया। पुस्तक शीघ्र ही अमेरिका में भी छप गई। तभी १८४७ में 'वुदरिंग हाइट्स' का ई० बेल नाम से और 'एग्नीज़ ग्रे' का ए० बेल नाम से प्रकाशन हुआ। 'वुदरिंग हाइट्स' सभी से बाज़ी मार ले गया। यह एमिली का पहला और आखिरी उपन्यास है जो उसे विश्व-साहित्य में अमर कर गया है। 'जेन आयर' एक विवादास्पद उपन्यास था। 'वुदरिंग हाइट्स' ने लोकप्रियता की सभी सीमाओं को छुआ, पर लेखिका बहनें तब तक अज्ञात रहीं जब तक कि एमिली की मृत्यु के बाद उसपर आधारित शार्लें का उपन्यास 'शर्ली' प्रकाशित नहीं हुआ। फिर जब शार्लें पहचान ली गई तो तीनों बहनों के नाम सामने आ गए, यद्यपि ज़िन्दा तब शार्लें ही रही थी। शार्लें का तीसरा उपन्यास 'विलेट' बाद का है। तीनों बहनों के चारों उपन्यास उच्चस्तर के हैं पर शार्लें का 'जेन आयर' और एमिली का 'वुदरिंग हाइट्स' ही अधिक चर्चित रहे। इसी कारण दोनों बहनों का नाम विश्व-साहित्य में जितना परिचित है, एनी का उतना नहीं।

परिवार की क्षय-कारक परिस्थितियों का ग्रास बन एनी और एमिली की मृत्यु अल्पायु में हो गई थी। शार्लें बची थी पर बीमारी से सर्वथा मुक्त वह भी नहीं थी। हेवर्थ में रहते समय चर्च के एक नौजवान कर्मचारी ने उसके सामने विवाह का प्रस्ताव रखा था जो उसने स्वीकार नहीं किया था। पूरे परिवार को खोकर एकदम अकेली पड़ जाने पर १८५४ में उसने उसी कर्मचारी से विवाह कर लिया। पर सुखी दाम्पत्य जीवन के बावजूद, देर तक सुख पाना शार्लें की किस्मत में न था। केवल नौ महीने के वैवाहिक जीवन के बाद ३१ मार्च १८५५ को वह चल बसी। सब भाई-बहनों से काफी अधिक आयु पाकर भी उस समय वह ३९ वर्ष की ही थी।

एमिली और शार्लें के उपन्यासों का मूलस्वर है : संवेदनशीलता और मार्मिकता। अद्भुत शब्दचयन और चामत्कारिक शैली के साथ उनकी दूसरी

विशेषता हैं : सही-गलत की परम्परागत मान्यताओं की परवाह किए बिना एक क्रांतिकारी तत्त्व, जोश और रूहानी रोमान । इसलिए उन्हें पुरुषों के छद्म नाम का सहारा खोजना पड़ा था । पर तात्कालिक परिस्थितियां प्रतिभा को छिपा सकती हैं, मिटा नहीं सकतीं, एमिली ब्रोंटी और शार्लो ब्रोंटी इसकी मिसाल हैं ।

विश्व के करोड़ों बच्चों की दादी मां

इनिड ब्लाइटन

कहानियां और कहानियां।

उड़नखटोले की कहानियां। परियों और देवों की कहानियां। जादू और रहस्य की कहानियां। साहस के कारनामों की कहानियां। और इन सबके माध्यम से बाल-विकास और चरित्र-निर्माण की कहानियां।

एक छोटी-सी लड़की मां की गोद में बैठकर कहानियां सुनती है। हर अंकल-आंटी को पकड़कर उनसे कहानियां सुनती है और उनमें रस लेती है। फिर धीरे-धीरे सुनने का यह रस सुनाने के रस में बदल जाता है। बच्ची से किशोरी बन वह संडे स्कूल में बच्चों को कहानियां सुनाने लगती है। फिर संगीत सीखती है। बाल-पत्रिकाओं में कविताएं लिखती है। पर अध्यापिका बनकर जब बच्चों को पढ़ाती है, संगीत सिखाती है और कहानियां सुनाती है तो पाती है कि कहानियों में ही बच्चे सबसे ज़्यादा रस लेते हैं इसलिए उनके माध्यम से ही सर्वाधिक सीखते

हैं। यह उपलब्धि भी रसमय बन जाती है। और वह पिआनो, संगीत, अध्यापन,

कविता छोड़ केवल कहानियां लिखने लगती है। लिखती चली जाती है, तब तक, जब तक कि युवती से प्रौढ़ा और प्रौढ़ा से दादी मां, विश्व के करोड़ों बच्चों की दादी मां नहीं बन जाती।

विश्वविख्यात इस दादी मां का नाम है—इनिड ब्लाइटन।

इनिड ब्लाइटन का नाम संसार का हर अध्ययनशील किशोर जानता है। इसी तरह 'द फेमस फाइव', 'द सीक्रेट सेवेन,' 'नाटिएस्ट गर्ल इन द स्कूल,' 'द एडवेंचर्स फोर,' 'द मैजिक फार अवे ट्री,' 'द एनचेंटेड वूड,' 'एडवेंचर्स आफ द विशिंग चेयर,' 'हैलो ! मिस्टर ट्विडल,' आदि का भी। विश्व की हर मान्यता प्राप्त भाषा में ये पुस्तकें छपी और पढ़ी गई हैं। प्रसिद्ध भाषाओं के अलावा स्वाहिली, फिजियन, तमिल, इण्डोनेशियन आदि में भी। अंग्रेजी में तो हर जगह उपलब्ध हैं ही। 'नाडी' और 'फेमस फाइव' जैसी पुस्तकों की प्रतियां तो केवल ब्रिटेन में ही करोड़ों में बिक चुकी हैं, दुनिया भर में न जाने कितनी। ब्रिटेन के पचीस और विदेशों के चालीस प्रकाशक इनको बार-बार और निरन्तर छापते रहते हैं क्योंकि इनिड ब्लाइटन के ये बाल-कथा संग्रह संख्या में चार सौ हैं और इनमें से आधे से ज़्यादा इतने लोकप्रिय हुए हैं कि उनकी मांग व बिक्री निरन्तर बढ़ती रही है।

एक सर्वेक्षण रिपोर्ट के आधार पर पुस्तकों के अनुवाद व विक्रय की दृष्टि से इनिड ब्लाइटन का स्थान विश्व में बारहवां और ब्रिटेन में तीसरा है। शेक्सपियर और अगाथा क्रिस्टी के बाद इनिड ब्लाइटन की पुस्तकों की ही सर्वाधिक मांग है। संसार-भर की भाषाओं में इन पुस्तकों के ३९९ अनुवाद मिलते हैं। 'नाडी इन टायलैण्ड', 'फेमस फाइव' पर आधारित सफल क्रिसमस नाटक पर फिल्म भी बन चुकी है।

'एडवेंचर्स', 'मिस्ट्री', 'सीक्रेट', 'फेमिली' शीर्षकों से सीरीज में प्रकाशित इन पुस्तकों में हर रुचि के बालक और किशोर के लिए प्राकृतिक अध्ययन, समाज-विज्ञान, धर्म, नीति, साहस, कल्पनाशीलता, खेल, चुहल, मनोरंजन आदि का भरपूर मसाला है। पर उनका समूचा प्रभाव है—रोचकता। बाल-मन की जिज्ञासा वृत्ति को उभारते हुए, उसकी कल्पनाशीलता को विकसित करते हुए, उसे एक गुदगुदी के बहाव में बहाते हुए शुरू से अन्त तक रुचिपूर्वक पढ़ने में लगाए रखना और स्वयं ही प्रश्नों के उत्तर खोज निकालने के लिए तैयार करना इनिड ब्लाइटन की कहानियों की विशेषता भी है, सफलता भी।

इनिड ब्लाइटन की भारी सफलता देखकर कई शिक्षाशास्त्रियों और आलो-

चकों ने उनकी प्रशंसा की तो कइयों ने कटु आलोचना भी। ब्रिटिश आलोचकों

का एक वर्ग उनकी कहानियों को अकल्पनीय, अविश्वसनीय और नयेपन के अभाव में प्राचीन मतिभ्रम के दोष से युक्त ठहराकर उनकी कटु आलोचना करता रहा है। कुछ पुस्तकालयों द्वारा उनकी पुस्तकों के प्रवेश पर निषेधाज्ञाएं भी जारी की गईं। पर इससे पुस्तकों की मांग और बिक्री पर कोई असर नहीं पड़ा। समीक्षाओं और समीक्षकों से अनभिज्ञ अपरिचित बालक उन्हें रुचि से पढ़ते रहे। अब भी उसी रुचि से पढ़ते हैं। बालक की रुचि ही बालकोपयोगी पुस्तक का उचित मानदण्ड हो सकता है इसलिए पुस्तकें धड़ाधड़ छपती और बिकती रहती हैं।

बाल-रुचि का अध्ययन करने के लिए, कहते हैं, इनिड ब्लाइटन प्रायः हर रोज़ विभिन्न वर्गों और रुचियों के दो-तीन बालकों को पकड़ अपने साथ घुमाने ले जाती थीं और रास्ते में उन्हें अपनी कहानियां सुनाया करती थीं। कहानियों पर बच्चों की रुचि, जिज्ञासा, प्रतिक्रिया आदि का बड़ी बारीकी से अध्ययन करती थीं और फिर इस अनुभव के आधार पर उनकी अगली कहानियां उत्तरोत्तर विकसित होती जाती थीं। लिखते समय भी वे ऐसे लिखती थीं जैसे कि सामने बैठे कुछ बच्चों को सुना रही हों। लेखन की तन्मयता के बीच भी बच्चे उनकी आंखों से कभी ओझल नहीं होते थे। तभी तो वे कहानी के बहाव के साथ उन्हें भी बहा ले जाने में इतनी अधिक सफल हो सकीं।

इनिड ब्लाइटन का जन्म सन् १९०० में डलविच, लन्दन में हुआ। अपना स्कूली अध्ययन और संगीत-शिक्षण समाप्त करने के बाद उन्होंने पत्रकारिता में शैक्षणिक विषय, किशोर-साहित्य और प्राकृतिक इतिहास लेकर विशेषज्ञता प्राप्त की। लेखन तो विद्यार्थी काल में ही प्रारम्भ हो गया था। चौदह वर्ष की आयु में उनकी पहली बाल-कविता छपी। फिर 'रियल फेयरीज़' नामक एक कविता-संग्रह। अध्यापन के लिए उन्होंने किंडर गार्टन ट्रेनिंग ली, जिसका विकास २०० के लगभग शैक्षणिक पुस्तिकाओं के लेखन और 'माडर्न टीचिंग' पत्रिका की संपादिका के नाते शैक्षणिक पत्रकारिता में हुआ। 'पिक्चोरियल नालेज' और 'टू ईयर्स इन द इनफैन्ट स्कूल' उनके अन्य शैक्षणिक सहलेखन और प्रकाशन हैं।

शुरू में अध्यापन और शैक्षणिक संपादन कार्य साथ-साथ चलते रहे और विभिन्न बाल-पत्रिकाओं में बाल कविताएं व कहानियां छपती रहीं। फिर 'सनी स्टोरीज़' नाम की बाल-पत्रिका निकालने लगीं। इस पत्रिका में छपी उनकी कुछ कथा-मालाओं का अच्छा स्वागत हुआ तो मांग बढ़ने लगी। पच्चीस वर्ष की आयु तक उनके बाल-कथा लेखन में पूर्ण गति आ चुकी थी। बस, फिर तो यह प्रवाह

थमा ही नहीं। कहानियों की कई सीरीज़ के बाद फिर पुस्तकों की सीरीज़ पर सीरीज़ प्रकाशित होने लगीं। दो सौ शैक्षणिक बाल-पुस्तकें, चार सौ बाल-कथा संग्रह तथा कई पत्रिकाओं का संपादन ४०-४५ वर्ष के लेखकीय जीवन में कोई आसान बात नहीं। यह भी उनकी कहानियों में वर्णित चमत्कारों जैसा ही एक चमत्कार है। प्रसिद्धि के बाद उन्होंने 'इनिड ब्लाइटन मैग्ज़ीन' नामक पत्रिका का भी कई साल तक संपादन संभाला। विश्व के हर भाग से उनकी डाक में सैंकड़ों बच्चों के पत्र रोज़ आते थे जिनका उत्तर देने के लिए एक अलग कार्यालय खोला गया था।...पत्रिकाओं के संपादकीयों और पुस्तकों की भूमिकाओं के माध्यम से 'ग्रीन हैजेज' नामक उनके घर का पता सभी बाल-पाठकों के लिए खूब परिचित रहा है। कल्पना-लोक की इस लेखिका को अपनी कल्पना में बालक शायद कोई वैसी ही चामत्कारिक या दैवी शक्ति मानते हों, इसलिए इनिड ब्लाइटन का हस्ताक्षरयुक्त पत्रोत्तर पाकर उनकी आंखें एक आश्चर्यमिश्रित आनन्द से चमकने लगती थीं।

अपनी कहानियों से न जाने कितने मासूम भोले मन जीतने वाली, विश्व के लाखों-करोड़ों बच्चों की यह दादी मां अभी २८ नवम्बर, १९६८ में ही इस संसार से विदा हुई। अपने बाल पाठकों के पत्रों के उत्तर अब वे नहीं दे सकेंगी, पर अपनी सैंकड़ों रोचक पुस्तकों के माध्यम से कई पीढ़ियों तक बच्चों से उनका सम्पर्क बना रहेगा।

सर्वाधिक पढ़ी जाने वाली जासूसी लेखिका

अगाथा क्रिस्टी

कुछ वर्ष पूर्व यूनेस्को की एक रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी। इस रिपोर्ट के अनुसार, अंग्रेज लेखिका अगाथा क्रिस्टी विश्व की सबसे अधिक पढ़ी जाने वाली जासूसी लेखिका हैं।

ठीक भी है। जासूसी साहित्य में अगाथा जितनी लोकप्रिय हुई हैं, शायद ही कोई और लेखक हुआ हो। और उनकी लोकप्रियता के साक्षी हैं : उनकी जन्मजात प्रतिभा, कड़ी मेहनत करने की प्रवृत्ति और दृढ़ आत्मविश्वास।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान उन्होंने अपनी पहली पुस्तक लिखी थी। जैसा कि प्रारम्भ में हर प्रतिभाशाली लेखक के साथ हुआ है, वे एक प्रकाशक से दूसरे प्रकाशक के द्वार खटखटाती रहीं पर उस समय कोई भी प्रकाशक उनकी पुस्तक प्रकाशित करने को तैयार नहीं हुआ। परन्तु अगाथा इससे तनिक भी विचलित नहीं हुईं और दृढ़ आत्मविश्वास के साथ अपने प्रयत्नों को आगे बढ़ाती रहीं। पर

 वि-६

ग्रात्मविश्वास ग्रौर प्रतिभा की विजय होनी थी, हुई। सफलता ने उनकी दृढ़ता के ग्रागे समर्पण कर दिया। १९२० में 'मिस्टीरियस ग्रफेयर एट स्टाइल्स' का प्रकाशन हुग्रा। पुस्तक बाज़ार में ग्राई। पाठकों तक पहुंची ग्रौर ग्रगाथा ने उनके हृदय में जगह बना ली। इस पहली पुस्तक के प्रकाशन के साथ ही ग्रगाथा की गणना लोकप्रिय लेखकों में होने लगी। ग्रब इस लोकप्रियता को बनाए रखने की समस्या सामने थी, इसके लिए उन्हें हमेशा कठिनाइयों और समस्याग्रों का सामना करना पड़ा। पर ये कठिनाइयां ग्रौर बाधाएं उनकी सफलता के मार्ग में कभी ग्राड़े नहीं ग्राईं। वे सभी को पार कर ग्रागे बढ़ती चलती गईं।

पाठकों को उनकी रचनाग्रों में कोरी कल्पना ही नहीं, कुछ ग्रौर भी मिलता है। वह है उनके ऐतिहासिक स्थानों के यात्राग्रों-सम्बन्धी ग्रनुभव। उनकी लगभग सभी रचनाएं उनके अपने ग्रनुभवों ग्रौर कल्पनाग्रों का एक दिलचस्प मिश्रण हैं। बहुप्रशंसित उपन्यास 'ब्लैक कॉफी' वास्तव में एक ऐसे द्वीप की कहानी है जिसे खरीदने के लालच से उन्होंने मोटर-बोट से वहां की यात्रा की थी। द्वीप का भयपूर्ण वातावरण देखकर उन्होंने उसे खरीदने का विचार तो छोड़ दिया परन्तु इसपर एक मज़ेदार उपन्यास लिखने का विचार इनके दिमाग में गड़ गया। फिर क्या था। जुट पड़ीं उसीमें। परिणाम एक ऐसे उपन्यास के रूप में सामने ग्राया जो पाठकों के हृदय पर ग्रपना अमिट प्रभाव छोड़ गया।

इसके बाद तो ग्रगाथा की मांग बढ़ती ही गई। टेलिविज़न पर, फिल्मों के पर्दो पर ग्रौर थियेटरों में स्टेज पर उनकी रचनाग्रों के नाट्य-रूपान्तर प्रस्तुत होने लगे। १९३९ में प्रकाशित उनका 'टेन लिटिल निगर्स' नामक उपन्यास १९४३ में नाटक के रूप में प्रस्तुत किया गया। नाटककार के रूप में यह उनकी पहली किन्तु महान सफलता थी।

ग्रगाथा क्रिस्टी का जन्म १८९१ में तारक्वे डेवन में हुग्रा था। रहस्यमय बातें बचपन से ही उसे ग्रपनी ग्रोर ग्राकर्षित करती थीं। रहस्यों की खोज में बेबी ग्रगाथा की विशेष रुचि रहती। पिता के मित्र ग्रंग्रेज़ लेखक ईडन फिलपोट्स ने इस बच्ची के ग्रन्दर छिपी एक महान प्रतिभा के दर्शन किये ग्रौर लिखने की ग्रोर प्रेरित किया। १९१४ में ग्रगाथा का विवाह कर्नल क्रिस्टी से हो गया। उस समय वे फ्रांस में काम कर रहे थे। युद्धकाल में ग्रगाथा ने डेवन के रेडक्रास में डिस्पेंसर के रूप में कार्य किया। दूसरे विश्वयुद्ध में भी ग्रगाथा ने लन्दन के एक ग्रस्पताल में यही कार्य किया। पर डाक्टर क्रिस्टी के साथ उनका वैवाहिक जीवन ग्रधिक दिन नहीं चला। इसी बीच मां की मृत्यु के सदमे से वे कुछ समय के लिए ग्रपनी स्मृति खो बैठी थीं ग्रौर इसी कारण एक दिन ग्रचानक रहस्यमय

ढंग से लापता भी हो गई थीं। बाद में श्रीमती नील नाम से स्वयं ही अगाथा क्रिस्टी की चर्चा करते हुए एक होटल में पहचान ली गई थीं। उनकी यह कहानी भी किसी जासूसी उपन्यास से कम रोचक व रहस्यपूर्ण न थी। बाद में स्मरण शक्ति की चिकित्सा से ठीक हो, वे पुनः लेखन में लग गईं।

इस घटना के दो वर्ष पश्चात ही वे प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डाक्टर मैक्स मैलोवेन के साथ वैवाहिक सम्बन्धों में बंध गईं। डाक्टर मैलोवेन 'आल सोल्स' कालेज, आक्सफोर्ड के पुरातत्त्व विभाग में प्राध्यापक थे। उन्हें मध्यपूर्व एशिया में पुरातत्त्व सम्बन्धी एक खुदाई का काम सौंपा गया। अगाथा और डाक्टर मैलोवेन ग्रीस में अपना हनीमून मनाकर अरब प्रदेश में चले गए जहां उन्हें खुदाई का काम दिया गया था। अगाथा ने एक वर्ष तक अपने पति के कार्य में सहायता की। "तुम कल्पना कर सकते हो कि सात हज़ार वर्ष पुराने अवशेषों की गर्द झाड़ने में कितना आनन्द आता है।" अगाथा कहा करती थीं। यही आनन्दमय अनुभव उनके उपन्यासों का विषय बन जाता था।

जिस काम को अगाथा सोच लेती हैं, उसे शीघ्र ही कर भी डालती हैं। जब किसी उपन्यास का विचार उनके दिमाग में आता है तब तीन-चार सप्ताह भी पूरे नहीं होते कि उपन्यास पूरा हो जाता है। युद्धकाल के बाद उन्होंने तीन महान रचनाओं का सृजन किया। ये रचनाएं उनके जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धियां थीं। १९५२ में प्रकाशित 'माउस स्ट्रैप' नामक उनका नाटक इतना लोकप्रिय हुआ कि उसने न्यूयार्क में लोकप्रियता का पिछला रिकार्ड, जोकि 'लाइफ विद फादर' के १९६० तक ३,२१३ बार खेले जाने से स्थापित हुआ था, तोड़ दिया। १९५३ में दूसरी कृति 'विटनेस फार दि प्रासिक्यूशन' स्टेज पर आई। अगाथा की अपनी सर्वप्रिय कृति यह नाटक ४५८ बार स्टेज पर खेला गया। और 'न्यूयार्क ड्रामा क्रिटिक्स सर्किल' की ओर से पुरस्कृत भी किया गया। तीसरी महान सफलता थी 'दि अनएक्सपेक्टेड गेस्ट'। यह नाटक लगातार १८ माह तक रंगमंच पर खेला जाता रहा। इसी बीच १९५४ में एक अन्य कृति 'स्पाइडर्स वेब' का भी मंचन और प्रकाशन हुआ। यह नाटक भी ५७७ बार खेला गया।

अगाथा अब अपनी लोकप्रियता के चरम शिखर पर पहुंच गई थीं। १९५६ में इन्होंने सी. बी. ई. का सृजन किया था। इस सृजन के लिए उन्हें 'एक्ज़ेटर विश्वविद्यालय' ने डाक्टरेट की सम्मानित उपाधि से विभूषित किया। महारानी एलिज़ाबेथ ने उन्हें 'कमांडर आफ दि ब्रिटिश एम्पायर' की उपाधि से विभूषित किया। 'रायल सोसाइटी आफ लिटरेचर' ने भी उन्हें अपना फेलो नामजद करके

सम्मानित किया, जबकि भारत में जासूसी लेखक के साथ साहित्य के क्षेत्र में

अछूतों जैसा वर्ताव होता है।

अब तक विश्व की १०३ भाषाओं में उनके उपन्यासों का अनुवाद हो चुका है, जिनकी ३५ करोड़ से भी अधिक प्रतियां बिक चुकी हैं। रायल्टी के रूप में उनकी वार्षिक आय का अनुमान १८ लाख रुपये तक है। अब तक उनके ८० उपन्यास प्रकाश में आ चुके हैं। अपने नवीनतम ८०वें उपन्यास 'पैसेन्जर टु फ्रैंकफुर्ट' के प्रकाशन के साथ उन्होंने अपना ८०वां जन्मदिन १५ सितंबर, १९७० को मनाया।

अगाथा ने बीच-बीच में सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं और जासूसी लेखन के सम्बन्ध में अपने अनुभव भी। जासूसी साहित्य की इस ख्यातिप्राप्त लेखिका के अनुसार, "ज़हर खाकर मृत्यु मुझे बहुत पसन्द है। यही कारण है कि मैंने अपनी रचनाओं में जहर को ही अधिकतर मृत्यु का कारण बनाया है।" जब प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान अगाथा 'डिस्पेंसिंग' का अध्ययन कर रही थीं तब ही उनके मन में विचार आया था कि क्यों न जहर और उससे होने वाली मृत्यु को ही कथावस्तु बनाकर जासूसी कथाएं लिखी जायें।

जासूसी लेखन में विभिन्न रुचियों के बारे में अगाथा का कहना है, "रुचियों को तीन भागों में बांटा जा सकता है। कौन? क्यों? और कैसे? अपने प्रारम्भ के लेखन में मैंने 'कौन' के प्रति उत्सुकता को प्रमुखता दी और अब 'क्यों' के प्रति उत्सुकता को प्रमुखता दे रही हूं। 'कैसे' के प्रति कुछ भी लिखना मुझे बिलकुल पसन्द नहीं है।"
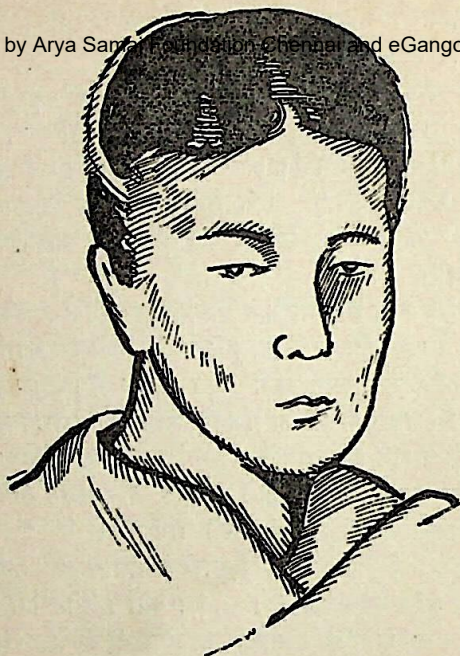
नारी-जीवन का महाकाव्य लिखने वाली

सिमोन द बुवा

'दि सेकिंड सेक्स' इस युग की एक महान कृति है, जिसे 'नारी शरीर, प्रकृति और जीवन का महाकाव्य' कहा गया है। सम्पूर्ण नारी जीवन का शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान और सामाजिक मनोविज्ञान की सभी दृष्टियों से इतना सूक्ष्म, तथ्यपरक विश्लेषण इसके पूर्व किसी भी एक पुस्तक में प्रस्तुत नहीं किया गया। सभी पूर्वधारणाओं और पूर्वाग्रहों को चुनौती देती, इस सशक्त क्रांतिकारी पुस्तक ने छपते ही सारे संसार में धूम मचा दी। एक-एक वर्ष में चार से आठ तक संस्करण निकल गए। लाखों प्रतियां हाथों-हाथ बिक गईं। रोचक उपन्यासों के अतिरिक्त शायद ही किसी गम्भीर विश्लेषणात्मक पुस्तक का पाठक-वर्ग में इतना ज़ोरदार स्वागत हुआ हो, जितना कि 'दि सेकिंड सेक्स' का हुआ।

इस पुस्तक की लेखिका हैं : फ्रांस की प्रख्यात साहित्यकार और आधु-
निक संसार की बहुचर्चित नारी सिमोन द बुवा। सिमोन द बुवा, जो अपने जीवन

में क्रांति और विद्रोह को लिखकर ही अर्थ नहीं देतीं, उसे जीती भी हैं। जो प्रसिद्ध फ्रेंचलेखक ज्यां पाल सार्त्र की मुग्धमोही मित्र हैं और तीस वर्षों के लम्बे समय से इस अनूठी प्रेमल मित्रता को मन-प्राण से निभाए जा रही हैं। जो विवाह को 'एक अन्तहीन बोरियत' मान उससे घृणा करती है। जो अस्तित्ववादी आन्दोलन के अग्रणी नेताओं और विश्व की अग्रणी प्रबुद्ध नारियों में से एक हैं। और इस सबके साथ एक चर्चित, स्थापित साहित्यकार भी।

सिमोन द बुवा का जन्म १९०८ में पेरिस में हुआ। पिता पुराने सामंती विचारों के वकील, पर साथ ही अध्ययनशील और कलाकार। मां धार्मिक विचारों की शालीन, कुलीन, कर्तव्यपरायण नारी। बालिका सिमोन द बुआ पर शैशव से किशोरावस्था तक दोनों का सम्मिलित प्रभाव पड़ा। हितैषी निर्देशक और सलाहकार के रूप में पिता ने उसे एक प्रबुद्ध और विकसित मानव बनने की ओर प्रेरित किया। मां ने एक त्यागमयी, कर्तव्यपरायण, शालीन और कोमल नारी बनने की ओर। जी-जान से वह अध्ययन करती, सीखती और एक अच्छी लड़की बनने की चेष्टा करती। पर भीतर कहीं कुछ ऐसा होता, उठता कि कभी वह नर्वस हो जाती तो कभी क्रोध से भर तोड़-फोड़ पर उतारू हो जाती। किशोरा-वस्था पार करते न करते भीतर का यह विद्रोह बाहर फूटने लगा, जिसने सिमोन द बुआ के भावी जीवन की राह निश्चित कर दी।

शैशव से किशोरावस्था तक की अपनी इन सारी जीवंत अनुभूतियों को सिमोन द बुवा ने अपनी आत्मकथा के प्रथम भाग 'दि मेमोरीज़ आफ ए ड्यूटीफुल डाटर' में बड़े विस्तार से लिखा है। 'दि सेकिंड सेक्स' में असंख्य केस-हिस्ट्रियां संग्रहीत कर उसे प्रमाणिक बनाने के प्रयत्न के पीछे उनकी निजी अनुभूतियों की यह प्रेरणा भी पूरी तरह झांकती है। 'दि सेकिंड सेक्स' तथ्यपरक वैज्ञानिक रचना है, 'दि मेमोरीज़ आफ ए ड्यूटीफुल डाटर' व्यक्तिगत कहानी। पर दोनों में कथ्य-शैली की रोचकता और कृतित्व-कुशलता किसी साहित्यिक कृति से कम नहीं है। प्रारंभिक वर्णन की एक बानगी है—"मुझे प्रथम उपलब्धि मुंह के माध्यम से मिली। मां, गवर्नेस, दादी सब चाव से खिलातीं और कहतीं—खाओगी नहीं तो बड़ी कैसे होओगी—मैं खाती गई और बड़ी होती गई, और बड़ी होने के साथ ही भाग्य बंधता गया। यह मत करो···यह अवश्य करो···जुबान पर काबू रखो··· इच्छाओं को वश में रखो···यह लड़कियों को शोभा नहीं देता—आदि आदेश-निषेध मेरी बाल-सुलभ योजनाओं में ज़हर भरते गए। आसपास के सब बड़े लोग

मुझ पर अपना जादू डालने की शक्ति से लैस थे, इतने कि मुझे एक इन्सान से जानवर या वस्तु में बदलने में समर्थ हो सकें । [illegible] कभी-कभी गुस्से में कहते—यह लड़की असामाजिक होती जा रही है—और मैं केवल अवज्ञा के लिए अवज्ञा कर उसका आनन्द उठाने की कोशिश करती । बड़ों का व्यवहार मुझे शंकास्पद लगता, जैसे कि मेरे छोटेपन का वे लाभ उठा रहे हों । किसी न किसी बहाने मैं विद्रोह करती, फिर भी बड़ों के जादू के प्रभाव से वे सारे मूल्य मैं स्वीकारती गई । इसलिए कि मुझे झगड़े से सख्त घृणा थी ।…मोटे तौर पर मेरी दुनिया दो हिस्सों में बंट गई थी—बुराई और अच्छाई में । मेरी दुनिया अच्छाई के साथ जुड़ी थी; जोड़ी जा रही थी । पर उस अच्छाई में कुछ बुराइयां इस तरह झलक जाती थीं जैसे अच्छाई के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न शेड हों ।—घर की दुनिया से स्कूल की दुनिया में जाकर मैं बहुत खुश हुई कि यहां से अब मेरी दुनिया खुलने वाली थी । स्वयं को समझने के लिए और आगे खुलने वाली दुनिया को समझने के लिए मैं अध्ययन और अध्ययन में डूबती चली गई ।"

इस तरह आत्मकथा का प्रथम भाग बुवा के सुविधासम्पन्न और इज़्ज़तदार बचपन की, और उसमें फूटते विद्रोह के नन्हें अंकुरों की कहानी है । साथ ही 'टीन एज' की एक दुर्लभ तस्वीर भी । 'टीन एज' लड़की, जिसपर निगाह रखी जाती है, जिसके पत्र खोले जाते हैं, जो कदम-कदम पर अस्तित्व के लिए और ज्ञानप्राप्ति के लिए लड़ती है, और जिसे माता-पिता जैसे अपनी असफलताओं के लिए सज़ा दे रहे हैं । इस कहानी के अन्त में सार्त्र के साथ पहले प्रतिद्वन्द्विता व फिर मैत्री का वर्णन भी है ।

बुवा की आत्मकथा के द्वितीय भाग 'फोर्स आफ सरकमस्टांसेज' में उनके सार्त्र के साथ बिताए गए जीवन का स्पष्ट, निर्भीक वर्णन है । यही काल सिमोन द बुवा की साहित्यिक उपलब्धियों का भी काल है । यूरोप के अग्रणी कलाकार और प्रबुद्ध व्यक्ति तथा उनके विचार इन पृष्ठों में घने गुंथे हैं । सार्त्र-कामू के प्रसिद्ध झगड़े पर भी इसमें प्रकाश डाला गया है । विभिन्न देशों में चल रहे शीत युद्ध और क्यूबा, बर्लिन, स्वेज़, विएतनाम की घटनाओं पर भी । फिर भी सबसे पहले यह निजी अनुभूतियों, पीड़ाओं और उपलब्धियों का एक आंतरिक रिकार्ड है, जो अपने-आपमें बेजोड़ और अनूठा है ।

ज्यां पाल सार्त्र से परम्परा-विरुद्ध सम्बन्ध को वे अपने जीवन की एक उपलब्धि और सफलता मानती हैं । दोनों को वैवाहिक जीवन से सख्त घृणा है । दोनों स्वयं को विद्रोही और आवारा मानते हैं । साथ रहते हैं । दिन में अपने अध्ययन, लेखन और संसार-भर की घटनाओं पर विचार-विमर्श करते हैं । बहसें

करते हैं। एक-दूसरे को लेखन-निर्देश और सहयोग देते हैं। और रात-भर पेरिस की सड़कों पर घूमकर या अपरिचित स्थानों पर अखबार के बिस्तरों पर सोकर बिता देते हैं। उनका जीवन लोगों के लिए चर्चा और व्यंग का विषय है। अक्सर लोग उन्हें छेड़ते हैं; बुवा को स्त्री होने के नाते कुछ अधिक ही। पर वे परवाह कहां करती हैं! कभी-कभी चिढ़कर बुवा कह उठती हैं, "लेखिका होना भी एक मुसीबत है।" फिर भी वे अपनी राह चली जा रही हैं। समाज में परिवर्तन लाने के लिए लीक से हटकर चलने वालों को यह सब कुछ सहन करना ही पड़ता है। हर युग में ऐसा होता आया है, फिर परेशानी क्यों हो!

अपने मित्रों में बुवा 'केस्तर' नाम से जानी जाती हैं। उन्होंने सार्त्र पर बहुत लिखा है, पर सार्त्र के लिए अभी ऐसा अवसर आया नहीं। इसलिए सार्त्र बुवा के बारे में क्या कहते हैं, यह जानने के लिए मैंदलिन गोवीन द्वारा सार्त्र का जो इण्टरव्यू लिया गया था, उसके कुछ अंश यहां प्रस्तुत हैं। सार्त्र के उत्तर हैं: "जितना केस्तर मुझे जानती है, दूसरा कोई नहीं। इसलिए 'फोर्स आफ सरकमस्टांसेज़' के वर्णन प्रमाणिक ही होने चाहिए।...तीस वर्षों की मित्रता में हमारे बीच कभी लड़ाई नहीं हुई। बहसें होती हैं—अक्सर सैद्धान्तिक और राजनीतिक प्रश्नों पर। हमारी रचनाओं पर भी। उसमें क्रोध भी उभरता है। पर वह बहसों के साथ ही समाप्त हो जाता है। जैसे 'रेस्पेक्टेड प्रास्टीच्यूट' नामक अपना नाटक जब मैंने केस्तर को दिखाया तो उसने कहा—एकदम बकवास है—मैं ताव खा गया। अपमानित अनुभव कर मैंने चौबीस घंटों के अन्दर घोर श्रम करके उसका नया संशोधित रूप प्रस्तुत कर दिया। देखकर केस्तर ने कहा—हां, अब ठीक है—इस तरह हम एक-दूसरे के कट्टर आलोचक भी हैं, सहयोगी भी। बहस में मुझे क्रोध आ जाता है तो कई बार मैं अनापशनाप बक जाता हूं। केस्तर सह लेती है। फिर समझौता हो जाता है और तटस्थ रचनात्मक आलोचना हमें लाभ दे जाती है। केस्तर की कसौटी पर रचना ठीक उतरने पर ही मैं उसे पाठकों के सामने लाता हूं। अन्य लेखकों को यह सुविधा नहीं मिलती। वे प्रायः सन्देह में रहते हैं। हमारे साथ गहरा विश्वास है, आत्मीयता है। इसलिए संशय मिट जाते हैं। कई बार हम रचना को दोबारा-तिबारा लिखते हैं। इससे रचना में परिपक्वता आती है।

"केस्तर मुझे प्रायः दंभी व्यक्ति कहती है। मैं हूं भी शायद। वह जीवन से अधिक रस और शक्ति ग्रहण करती है। राजनीति पर भी हमारी बहसें होती हैं, पर वह राजनीति को गंभीरता से नहीं लेती। पाठकों से भावनात्मक स्तर पर मैं नहीं जुड़ पाता, वह जुड़ती है। उसमें एक ओर विचार-उत्तेजना है तो दूसरी ओर

भावनात्मक संवेदना । उसकी रचनाओं का सर्वाधिक प्रभावशाली पक्ष है—सहज प्रेषणीयता । केस्तर कदम-कदम पर स्वयं को परखती और स्वीकारती चलती है तो पाठक भी उसके साथ उसी स्थिति में हो जाते हैं । उसमें न लिप्तता है, न कटु आलोचना, जबकि मैं या तो अधिक कटु हो जाता हूं या अधिक आत्मतुष्ट । जिस तरह उसके स्वयं से अच्छे सम्बन्ध हैं, वैसे मेरे अपने-आपसे नहीं । अनुभूति-क्षमता उसमें इतनी गहरी है कि जिस विषय को उठाती है उसमें पूरी तरह लीन हो जाती है । न बनावट, न दिखावा । पूरी सहजता । उसमें आत्म आसक्ति नहीं । अपने विषय में वह प्रश्न उठाती है तो यह जानने के लिए कि अस्तित्व किस लिए ?

"केस्तर में ऊंचे दर्जे की प्रज्ञा है, पर इस कारण नारीसुलभ कोमलता या संवेदना की कमी नहीं । उसमें पुरुषोचित गुण हैं तो नारीत्व की सारी विशेषताएं भी । उसकी प्रेरणा से मेरे ज़बर्दस्त अहंभाव में कमी आती है । वह न मिलती तो भी मैं लेखक तो होता ही क्योंकि शुरू से था, पर यह सुरक्षा और विश्वास न मिलता । अब हमें एकाकीपन खलता नहीं । साथ रहने से हमारी अनुभूतियां और स्मृतियां भी लगभग समान हैं ।"

सार्त्र की इस स्पष्टोक्ति से सिमोन द बुवा के स्वभाव और आचरण, प्रतिभा और उद्देश्य की पवित्रता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । वे स्वयं में भी 'नारी-जीवन के एक महाकाव्य' से कम नहीं हैं ।

उनकी कृतियां हैं : 'ले' इनवाइती', 'पय्यरस एत सिनीअस', 'ले' सांग दी आत्र', 'ली बुशेज़ इन्युताइल्स', 'तौस ली होम्स सां मोरतल्स', 'पोर नी मोरेल दी ला एम्बीग्युती', 'जामिला बेपाशा', (फ्रेंच नाम), 'द सेकेंड सेक्स', 'द लांग मार्च', 'मेमोरीज़ आफ़ ए ड्युटीफुल डाटर', 'द मंदारिंस', 'द प्राइम आफ लाइफ', 'फोर्स आफ सरकमस्टांसेज़' 'ए वेरी इज़ी डेथ' तथा नवीनतम उपन्यास है : 'द वूमैन डिस्ट्रायड' । पर उन्हें सर्वाधिक ख्याति मिली है, 'द सेकिंड सेक्स' से जो अपने ढंग की एक ही अनूठी पुस्तक है संसार में ।

बुवा के अपने अनुभव, विश्वास और लाखों प्रामाणिक उदाहरणों से युक्त इस पुस्तक में यह सिद्ध किया गया है कि पुरुष से नारी की हीनता केवल इसी लिए है कि उसे ऐसा बनाया गया है । शैशव, बचपन, किशोरावस्था, यौन-संबध, विवाह, संतान, नारी-जीवन की संभावनाएं, उपलब्धियां और विकृतियां—सभी का सूक्ष्म बौद्धिक और वैज्ञानिक विश्लेषण है इसमें । हर वाक्य, हर पैरा बौद्धिक बारीकी और प्रमाणिक सूचनाओं से जैसे गुंथा हुआ है । बहुत ही असाधारण, उत्तेजक और पढ़ने योग्य है यह पुस्तक । इसलिए बहुपठित भी ।

'द सेकेंड सेक्स' में दी गई बुवा की मान्यताओं के अनुसार, आज नारी जो दिखाई देती है वह परम्परागत नारीत्व की परिभाषा का ही फल है। स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए उसकी लड़ाई शैशव से ही आरम्भ हो जाती है पर मनोवैज्ञानिक व परिवेशजनित कारणों से वह इसमें सफल नहीं हो पाती। परिवेश उसे मानवीय भूमिका देने में बाधक है। फलतः वह मानवी न होकर नारी होकर रह जाती है जिसका सामान्य भाग्य विवाह है और सामान्य प्रवृत्ति पुरुष को अपनी ओर आकर्षित करना। उसके व्यक्तित्व का निर्माण वैसा ही हो पाता है, जैसाकि आसपास के लोग उससे अपेक्षा करते हैं। भीतर से विद्रोह चलता है, बाहर से स्वीकृति। यही कारण है कि वह अबूझ पहेली और रहस्यमयी होकर रह जाती है। आज तक नारी-जीवन पर व्यंग, आलोचना, श्रद्धा, दया सभी कुछ तो उंडेला गया, पर उसे समझने का प्रयत्न नहीं किया गया।

'द सेकिंड सेक्स' में यही समझने का प्रयत्न है। सिमोन द बुवा ने ऐसी पुस्तक प्रस्तुत करके एक तरह से कुंठित नारी जीवन का उद्धार किया है। जिसके लिए विश्व की महिलाएं उनकी सदा ऋणी रहेंगी। ऐसी क्रांतिकारी पुस्तकें भविष्य पर अपना निश्चित ही प्रभाव छोड़ती हैं। यदि समय के साथ नारी अपनी नियति से मुक्त हो सहज जीवन जीने की ओर अभिमुख हो सकी तो सिमोन द बुवा की यह अमूल्य देन अवश्य ही इसका श्रेय पाएगी।
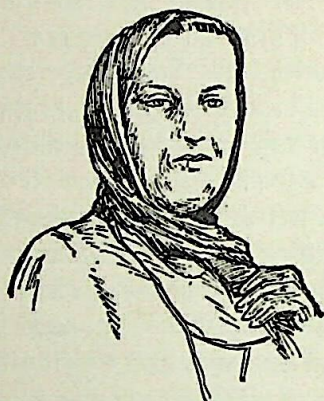
परदे वाले देश से फूटी एक रोशनी

खालिदा अदीब खानम

सन् १९१२। क्रीमिया युद्ध में घायल तुर्क सैनिकों की सेवा-सुश्रुषा के लिए भारत के राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त नेता और चिकित्सक डा० अन्सारी अपना मेडिकल-मिशन लेकर टर्की गए थे। वहां उनकी भेंट टर्की की एक ऐसी जागरूक नारी से हुई जिसकी विद्वत्ता ने उन्हें बेहद अभिभूत कर दिया। बाद में पत्र-व्यवहार से जब यह प्रभाव और गहरा हो गया तो फिर उन्हें जामिया मिलिया, दिल्ली में भाषणों के लिए सादर आमंत्रित किया गया।

टर्की की इस जागरूक विदुषी नारी का नाम है—खालिदा अदीब खानम।

सन् १९३५ में खालिदा अदीब खानम भारत आई थीं और उन्होंने जामिया मिलिया तथा अन्य कई शिक्षा-संस्थाओं में भी अपने भाषणों का क्रम चलाया था। जामियामिलिया के पुस्तकालय में उनके भाषणों का यह संग्रह उपलब्ध है—'कानफ्लिक्ट बिटवीन ईस्ट एंड वेस्ट'। ऐसा ही उनका एक और भाषण-संग्रह

है—'इनसाइड एशिया'। प्रथम संग्रह में पूर्व-पश्चिम की सभ्यताओं के विकास-संदर्भ में आधुनिक समस्याओं को समझने की चेष्टा की गई है। द्वितीय में भारत और अन्य एशियाई देशों के सांस्कृतिक अध्ययन का सूक्ष्म विवरण है। इसमें भारत के हिन्दू धर्म, भारतीय संस्कृति, उस पर मुस्लिम व ब्रिटिश प्रभाव, स्वराज्य आंदोलन आदि का विश्लेषण एक मुस्लिम की दृष्टि से नहीं, तटस्थ विचारक की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि वे यूरोप में पढ़ी और घूमी हैं पर भारत को उन्होंने अपने वैचारिक-मानसिक-आध्यात्मिक धरातल के अधिक निकट पाया है। भारतीय स्त्रियों की स्थिति-प्रकृति का सजीव चित्रण करते हुए उन्होंने शहरी के बजाय ग्रामीण भारतीय नारी को अधिक साहसी, अधिक मज़बूत और अपनी संस्कृति के अधिक निकट बताकर उसकी प्रशंसा की है।

भारत और दूसरे एशियाई देशों के अतिरिक्त खालिदा अदीब खानम ने अमेरिका, इंग्लैंड और अन्य यूरोपीय देशों में घूम-घूमकर वहां के अनेक विश्व-विद्यालयों में भी भाषण दिए हैं। विश्व-इतिहास, राजनीति, संस्कृति, साहित्य का गहन अध्ययन रखने के कारण इस विदुषी नारी को सर्वत्र सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था और भाषणों के लिए साग्रह निमंत्रित किया जाता था। भाषणों का ही नहीं, उनकी लेखनी का भी लौह-प्रभाव विश्व के पूरे बौद्धिक जगत पर है। इस लौह-प्रभाव की शुरुआत लेखन से ही हुई थी। भाषण बाद की स्थिति हैं।

बीसवीं सदी का एकदम प्रारम्भिक काल। इस्तांबूल (टर्की) में १८८५ में जन्मी खालिदा तब मुश्किल से बीस वर्ष की रही होंगी। अमेरिका और लन्दन के कालेजों से प्राप्त शिक्षा समाप्तकर वे स्वदेश लौटीं तो युवा-हृदय में बगावत का एक तूफान लिए। उन्होंने देखा, टर्की पर शक्तिशाली देशों की गिद्धदृष्टि लगी है। किसी न किसी बहाने पाश्चात्य शक्तियों का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है। सामन्ती शासन में लूट-खसोट, बेईमानी, भ्रष्टाचार, गरीब जनता का शोषण वृद्धि पर है। देश पड़ोसी राज्यों और सुदूर की विदेशी शक्तियों के आपसी स्वार्थों का अखाड़ा बना हुआ है, जिसमें टर्की के सामंत व पूंजीपति भी अपनी स्वार्थ सिद्धि में लगे हैं और सामान्य जनता त्रस्त, शोषित होकर भी अपनी असहायता का अनुभव कर उदासीन है। खलीफा के इस असमर्थ-अकुशल शासन से असंतुष्ट, आक्रोशी युवती खालिदा घंटों अपने कमरे में बैठकर एकांतचिन्तन करती रहतीं। उन्होंने सामंतवाद के पतन और पूंजीवाद के उदय में बौद्धिक शक्तियों को उभरते पश्चिम में देखा था। पूंजीवाद से घृणा करते हुए भी यही झीनी आशा लेकर उन्होंने अपने देश में भी रूढ़ सांस्कृतिक मूल्यों के स्थान पर नई

सांस्कृतिक चेतना लाने का सपना संजोया, ध्येय निश्चित किया और फिर कार्य में जुट गई।

पर्याप्त साधनों के अभाव में राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश संभव न था। स्वभाव से भी राजनीति उनके अधिक अनुकूल न पड़ती थी। तो लेखनी चल पड़ी। सर्वप्रथम वे एक क्रांतिकारी लेखिका के रूप में ही जनता के सामने आईं। उनके धुआंधार विचारों और लौह-लेखनी के जोशीले तूफान ने लोगों को झकझोरकर रख दिया, "राजनीतिक नेता सामाजिक परिवर्तन नहीं ला सकते। जनता को स्वयं आगे बढ़कर मानवीय सभ्यता की प्रगति को हाथ में लेना होगा। बौद्धिक शक्तियां ही जागकर भ्रष्टाचार और शोषण को ठिकाने लगा सकती हैं। नई पीढ़ी में चेतना जागे। वह मानवीय सौहार्द और राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए कटि-बद्ध हो तो पूर्व-पश्चिम, ऊंच-नीच, गरीब-अमीर में फैली खाई को पाटकर मान-वीय समानता और सांस्कृतिक समन्वय की राह खोली जा सकती है। समस्त युद्धों, अत्याचारों और समस्याओं का हल इस समन्वय में ही निहित है।"—आदि आदि।

लेखनी का लौह-प्रभाव बढ़ा, फैला तो खालिदा की ख्याति शासकों की आंखों में चुभ गई। खालिदा को भागकर मिश्र में शरण लेनी पड़ी। यह १९०९ की बात है, जब उनकी आयु केवल २४ वर्ष थी। कुछ समय बाद स्वदेश लौट-कर उन्होंने उपन्यास लिखना शुरू कर दिया। वही जोश, वही आवाज़, वही क्रांतिकारी विचारधारा लेखों से मुड़कर उपन्यासों में बहने लगी। उनके उपन्यासों में 'सेवी तासिव' और 'नया तुर्रा' विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें शिक्षा की समस्या उठाई गई है। स्त्री-जागृति को बल प्रदान किया गया है। परंम्परागत रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर खुलकर प्रहार किए गए हैं। सामान्य जनता और बौद्धिक वर्ग दोनों में इनका भरपूर स्वागत हुआ।

फिर आया टर्की बालकन युद्ध। खालिदा लेखन छोड़ सार्वजनिक जीवन में कूद पड़ीं। आक्रमण से बचाव के लिए उन्होंने जनता को जगाया और प्रशिक्षित किया। घायलों की मरहम-पट्टी के लिए तथा अन्य सेवाओं के लिए स्त्रियों का दल संगठित किया। राष्ट्रीय समाचारसमिति की स्थापना की। स्वयं सैनिक वेश में घूम-घूमकर युद्ध-तैयारियों और हमले से बचाव की स्थितियों का निरीक्षण करती थीं—निडर होकर, साहस और कौशल से। प्रथम महायुद्ध समाप्त हुआ तो मित्र-राष्ट्रों की ज़्यादतियों के विरुद्ध टर्की की जनता को जगाने में भी खालिदा का बहुत हाथ रहा। राष्ट्रीय एकता के लिए चलाए गए कमाल अतातुर्क के खिलाफत आंदोलन में वे शामिल हो गईं। मित्र-राष्ट्र युद्ध-विजय में लूट की

हिस्सेदारी के रूप में टर्की का विभाजन कर देना चाहते थे। शासक झुक जाएंगे, यह देखकर कमाल अतातुर्क और खालिदा ने जनता का आह्वान किया और क्रांतिकारी संगठित होने लगे। अनातोलिया के पर्वतीय प्रदेश के अनपढ़ किसान, मज़दूर, साधारण जन, औरतें तक क्रांतिसेना में भरती हो साधारण सैनिकों के साथ युद्ध मोर्चों पर तैनात हो गए। आखिर में उन्होंने टर्की को आज़ाद कराके ही दम लिया।

स्वतंत्रता के बाद कमाल अतातुर्क की तानाशाही खालिदा को पसंद नहीं आई तो वे अपने समर्थकों को साथ ले अलग हो गईं। अब उनका दल विरोधी दल के रूप में सामने आ गया ताकि क्रांति की मशाल बुझे नहीं। पर खालिदा अदीब लोकतन्त्र का सपना देख रही थीं। उसे स्थापित करने में अभी सफल कहां हो पाई थीं? अतः उन्हें एक बार फिर प्राण-रक्षा के लिए देश छोड़कर जाना पड़ा। अतातुर्क के राज्यकाल में वे निर्वासित जीवन ही बिताती रहीं। पर यह निर्वासन-काल उनके लिए वरदान सिद्ध हुआ। उनका अध्ययन-चिन्तन-मनन बढ़ा और वे एक उच्च-कोटि की लेखिका-विचारक-भाषणकर्त्री के रूप में विश्व-ख्याति अर्जित करने लगीं। इससे एक यह भी लाभ हुआ कि बाद में स्वदेश लौटने की अनुमति पाकर भी वे दोबारा राजनीति में लिप्त नहीं हुईं। अपनी क्रांतिकारी भावनाओं को अप्रत्यक्ष किन्तु अधिक सशक्त माध्यम से लोगों के सम्मुख रखती रहीं। आज इस विदुषी मुस्लिम महिला से संसार का प्रायः हर बौद्धिक परिचित है और टर्की की हर युवती उनके जीवन और विचारों से प्रेरणा पाती है।

बर्थ-कंट्रोल का नया विचार देने वाली

मार्गरेट सेंगर

सन् १९१२ की एक घटना। एक ट्रक-ड्राइवर जैक की पत्नी सैडी सेक्स शय्या पर पड़ी मृत्यु की घड़ियां गिन रही है। इस रोगिणी की आयु २८ वर्ष की रही होगी। पति गरीब ड्राइवर और बच्चे तीन। पहला पांच वर्ष का, दूसरा तीन वर्ष का, तीसरा एक वर्ष का और चौथा पेट में। इस चौथे की उसने भ्रूण हत्या कर दी थी और स्वयं संकट में पड़ गई थी। पत्नी वेदना से छटपटाती हुई और पति के चेहरे पर भयंकर उदासी।

तभी डाक्टर के साथ एक नर्स ने प्रवेश किया। डाक्टर ने प्रयत्न किया और गरीबी व मौत से लड़ती सैडी को बचा लिया। सैडी ने आंखें खोलीं और डब-डबाई आंखें नर्स पर गड़ाकर बोली, "सिस्टर, अबकी तो जान बच गई, पर अगला बच्चा मेरे प्राण अवश्य ले लेगा। क्या कोई ऐसा उपाय नहीं है कि मैं इससे बच पाऊं?" डाक्टर शायद रोज़-रोज़ ऐसे दृश्यों को देखने का आदी था।

उसने बैग उठाया और चलते-चलते होंठ दबाकर बोला…"सैंडी, जैक से कहो, संयम से रहे।" पर नर्स के पैर वहीं जाम हो गए। औरत ने औरत की वेदना को समझा और मन ही मन बुदबुदाई, "डाक्टर क्या समझेगा, वह स्वयं भी तो मर्द है।"…ज़ाहिरा उसने सैंडी से कहा, "उपाय ? इसका उपाय मैं नहीं जानती, पर जानना चाहती हूं। मैं ज़रूर खोजूंगी यह उपाय।" और नर्स बाहर निकली तो यह उपाय खोजने की धुन एक तूफान की तरह उसके सिर पर सवार थी।

यह नर्स थी—मार्गरेट सेंगर।

मार्गरेट सेंगर तब स्वयं भी २८ वर्ष की थी और सैंडी की तरह तीन बच्चों की मां बन चुकी थी। तीन महीने बाद ही उसने सुना, सैंडी की अगले गर्भपात में मृत्यु हो गई है। नर्स सेंगर बुदबुदाई, 'सैंडी मर गई। चौथे बच्चे को उसने मार डाला, पांचवे बच्चे ने उसे। जैक संयम नहीं रख सका। जैक मर्द है। सैंडी उसकी पत्नी थी। दोनों ने साथ रहने के लिए चर्च में विवाह किया था। विवाह संयम नहीं जानता। मर्द प्रसव-वेदना को नहीं पहचानता। फिर…फिर क्या हो ?…क्या कोई ऐसा उपाय नहीं है कि बच्चा मां की स्वीकृति से ही उसकी कोख में आए ?…अवांछित, विवश मातृत्व से बेचारी नारी को छुटकारा मिले ?'—और इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए सेंगर ने हाथ में ले रखे नर्सिंग-बैग को उठाकर फेंक दिया, नर्स की पोशाक को उतार दिया और चल पड़ी संकल्प के उस पथ पर, जिसपर वह तब तक चलती रही जब तक कि 'परिवार-नियोजन' और 'संतति-निग्रह' शब्द विश्व के समस्त वैज्ञानिकों, अर्थशास्त्रियों, चिकित्सकों और नेताओं की ज़ुबान पर नहीं आ गए।

ट्रक ड्राइवर की पत्नी सैंडी सैक्स की मर्मव्यथा ने मार्गरेट सेंगर की जीवन धारा ही मोड़ दी। समाज-दर्शन की एक नई दृष्टि उन्हें मिल गई थी—"अनियंत्रित संतान हमारे अनेक दुःखों का मूल है…नारी जाति को अपनी शक्ति का अहसास कराओ…विश्व की समस्त महिलाओं को विवश-मातृत्व से मुक्ति प्रदान करो…रोगों का उपचार नहीं, निरोध करना होगा"…मानवीय संवेदना की यह मर्मानुभूति ही अब उनके जीवन-संकल्प का आधार थी।

यह एक बिल्कुल नया विचार था जिसपर चर्चा करना तब अश्लील माना जाता था। इस चर्चा पर समाज की बाधा थी, धर्म की बाधा थी, कानून की बाधा थी। और मार्गरेट सेंगर इस चर्चा को एक आन्दोलन के रूप में चलाना चाहती थीं। लोगों पर प्रारंभ में बड़ी विचित्र प्रतिक्रिया हुई। मार्गरेट समझ गईं कि इस कार्य में उन्हें किसीका सहयोग मिलने वाला नहीं है। अकेले ही चलना होगा। मार्गरेट के पास न पैसे थे, न कोई प्रभावकारी साधन। लिखने,

बोलने की क्षमता का भी अभाव। फिर भी जो कुछ पास था, बटोरकर उन्होंने १९१४ में 'वूमन रिबेल' नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ कर दिया। इसमें सामाजिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों, दमनकारी प्रवृत्तियों और कानूनों के खिलाफ एक प्रकार की खुली बगावत शुरू हो गई। विचार-स्वातंत्र्य का संदेश देनेवाली इस पत्रिका का आय-व्यय, लेखन-संपादन सब उन्हें अकेले देखना पड़ता था।

इसी पत्रिका में सर्वप्रथम 'बर्थ-कण्ट्रोल' शब्द का व्यवहार हुआ। प्रकाशित सामग्री से अमेरिकी महिलाओं में एक ऐसी लहर फैली कि न्याय और कानून के रक्षक घबरा उठे। पत्रिका पर प्रतिबंध लगा दिया गया। डाक-अधिकारियों ने डाक द्वारा प्रतियां भेजने से इंकार कर दिया। पर सेंगर हारी नहीं। उन्होंने इसे लेकर सरकार से लड़ाई करने की ठान ली। फिर अपने यूरोप-प्रवास काल में अर्जित ज्ञान के आधार पर उन्होंने 'परिवार-नियंत्रण' नाम की एक पुस्तिका लिखी। पर उसे छापता कौन? अनेकों मुद्रकों के पास हफ्तों चक्कर काटने के बाद एक मुद्रक ने उसके प्रकाशन का ज़िम्मा लिया। अपने हाथों से कम्पोज़ कर चोरी-छिपे रातोंरात पुस्तिका की एक लाख प्रतियां छाप दी गईं और पूर्व-निर्धारित योजनानुसार बड़े नगरों में हाथों-हाथ उनका वितरण भी हो गया। इस प्रकार अपने मंतव्य को लाखों हाथों में पहुंचाकर मार्गरेट को भारी आत्म-संतोष मिला। पर लक्ष्य तो इस आन्दोलन को विश्वव्यापी बनाने का था। वह इतनी-सी सफलता पर चुप कैसे बैठ जातीं।

आन्दोलन को व्यापक बनाने के लिए विषय का पूरा ज्ञान अर्जित करना ज़रूरी था और श्रीमती सेंगर स्वयं न डाक्टर थीं, न यौन-विशेषज्ञा ही। यह सोचकर उन्होंने अपने तीनों बच्चों को एक नर्स के हाथ सौंपा, बर्था वाटसन का छद्म नाम धारण किया और मान्ट्रियल होकर यूरोप पहुंच गईं। यूरोप भ्रमण के दौरान इंग्लैंड, फ्रांस व हालैंड के विशेषज्ञों से संपर्क स्थापित किया। इंग्लैंड के प्रसिद्ध यौन-विशेषज्ञ डा० हेवलाक एलिस से उन्होंने पर्याप्त ज्ञान अर्जित किया। इस प्रवास का एक लाभ यह भी हुआ कि अमरीका से बाहर यूरोपीय देशों में भी जन्म-नियंत्रण आन्दोलन की लहर फैल गई।

मार्गरेट यूरोप में घूम रही थीं और इधर अमेरिका में उनके पति को गिरफ्तार कर लिया गया था—कारण था उनके द्वारा वितरित 'परिवार-नियंत्रण' पत्रिका। इस सूचना से दुःखी होने के बजाय मार्गरेट और उत्साहित हुईं और विस्तृत अध्ययन कर मामले से निबटने की पूरी तैयारी के साथ अमेरिका लौट आईं।

इस समय तक बहुत-से शिक्षित लोग उनका समर्थन करने लगे थे। अमरीका

में इस वीच, 'नेशनल बर्थकंट्रोल लीग' नामक एक संस्था का भी निर्माण हो चुका था। यह संस्था पूर्णतया चिकित्सकों का एक संगठन था, जिसके कार्यक्रम

व उद्देश्य मार्गरेट के उद्देश्यों से भिन्न थे। फिर भी विचार तो जनता में जड़ जमा ही चुका था। उनके अमेरिका पहुंचने के चार दिन बाद हीं उनके पति जेल से रिहा कर दिए गए और पत्रिका के मुकदमे की तारीख बढ़ा दी गई। इससे मार्गरेट को तैयारी का और समय मिल गया।

आखिरकार १८ जनवरी, १९१६ को मार्गरेट न्यायालय में उपस्थित हुई। मुकदमे की कार्यवाही देखने दर्शकों की भारी भीड़ जमा थी। न्यायाधीश को व अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति विलसन को लोगों ने हज़ारों तार व पत्र भेजकर मार्गरेट के कार्यों की प्रशंसा की थी। जनमत के इस दबाव से सरकार ने बहाने से मुकदमा वापस उठा लिया। यह मार्गरेट की भारी विजय थी, पर उन्होंने इसे जनमत की विजय माना।

इस विजय के बाद मार्गरेट को देखने व सुनने के लिए जनता उमड़ पड़ी। पत्र-पत्रिकाओं में इस विजय की खूब चर्चा हुई और मार्गरेट के परिचय-लेख प्रकाशित होने लगे। जगह-जगह से उन्हें व्याख्यान के लिए व अभिनन्दन के लिए निमंत्रित किया जाने लगा।

किन्तु यह केवल विचार की विजय थी। उसे व्यावहारिक जामा पहनाना अभी शेष था। मार्गरेट ने अगला कदम उठाकर १६ अक्तूबर, १९१६ को ब्रुकलिन में विश्व का प्रथम 'बर्थकण्ट्रोल क्लीनिक' खोल दिया। इस केन्द्र में मार्गरेट की बहन एथेल बायरन भी काम कर रही थीं। यह केन्द्र अमेरिकी महिलाओं के लिए एक नया सन्देश लेकर आया था। पहले ही दिन १५० महिलाएं केन्द्र के सामने आकर खड़ी हो गईं। पर केंद्र केवल नौ दिन ही चलाया जा सका। दसवें दिन पुलिस ने आकर केंद्र को घेर लिया। मार्गरेट, उनकी बहन व एक कार्यकर्त्री—तीनों गिरफ्तार कर ली गईं। मार्गरेट व उनकी बहन—दोनों को ३० दिन के कारावास का दण्ड मिला।

पुलिस उन्हें 'तुम नारी नहीं हो, भ्रष्टा हो, जातिद्रोही हो।' कहकर लताड़ती। ईसाई पादरी उन्हें 'चुड़ैल' और 'अजन्मे बच्चों की हत्यारिणी' कहते। पर मार्गरेट हार मानने वाली नहीं थीं। इसी बात पर श्री सेंगर से मतभेद हो जाने पर उन्होंने उन्हें भी तलाक दे दिया। वे कहतीं, "मैं तो अपने ध्येय को समर्पित हूं, समर्पित रहूंगी। उन महिलाओं को, जिनके जीवन में कोई उल्लास नहीं और जिनके मुस्कराने पर पाबंदियां लगाई जा रही हैं, विवशता के अंधेरे गर्त से निकालकर रोशनी में लाना मेरा पहला कर्तव्य है।' पर बाद में श्री जे० नोआह

एच० स्ली के साथ विवाह करके भी वह स्वयं को मार्गरेट सेंगर ही लिखती रहीं। आखिर उस पति से उनके तीन बच्चे थे और बीस वर्षीय वैवाहिक जीवन की स्मृतियां जुड़ी थीं। श्री स्ली से विवाह के समय अपने पूर्व उपनाम का प्रयोग व व्यक्तिगतजीवन में पूर्ण स्वतन्त्रता की शर्तें उन्होंने स्वीकार करवा ली थीं। पति-पत्नी अपना स्वतंत्र जीवन बिताते रहे, फिर भी यह जोड़ी अंत तक खूब निभी।

मार्गरेट के प्रथम क्लीनिक के मुकदमे की सुनवाई ८ जनवरी, १९१७ को हुई थी। हज़ारों महिलाएं उनके दर्शनों के लिए और मुकदमे की कार्यवाही देखने उमड़ पड़ी थीं। सज़ा सुनाए जाने के विरोध में उनकी बहन एथेल ने भूख-हड़ताल कर दी, जिसके समाचार सभी पत्रों में मोटी सुर्खियों से छपे। कारनेगी हाल में इस गिरफ्तारी के विरोध मेंएक विराट जन-सभा का भी आयोजन हुआ। 'न्यूयार्क ट्रिब्यूनल' के सम्पादक ने लिखा, "पचास साल बाद कोई इस बात पर विश्वास भी न कर सकेगा कि १९१७ में एक नारी को इसलिए गिरफ्तार किया गया कि वह शारीरिक अंगों व उनकी प्रक्रियाओं की जानकारी देकर स्त्रियों को विवश मातृत्व से छुटकारा दिलाना चाहती थी।" आज यह भविष्यवाणी कितनी सच सिद्ध हो रही है!

जमानत पर छूटते ही मार्गरेट ने अपना क्लीनिक फिर चालू कर दिया। न्यायालय का आदेश भंग हुआ और फिर जेल। मुकदमे की सुनवाई में उनसे पूछा गया तो उन्होंने वेधड़क उत्तर दिया, "आप इसपर प्रतिबंध लगाने के लिए जो कानून बनाएंगे, उन्हें तोड़ना ही मेरा धर्म है।" परिणामतः अपने इस कल्याणकारी ध्येय की पूर्ति के लिए मार्गरेट को आठ बार जेल की हवा खानी पड़ी। सचमुच क्या आज इसपर कोई यकीन कर सकता है कि परिवार-नियोजन क्लीनिक चलाने पर मार्गरेट को आठ बार जेल जाना पड़ा? जन्म-नियंत्रण व जनसंख्या-नियंत्रण के प्रश्न ने आज जिस प्रकार सारे संसार का ध्यान आकर्षित किया है, उसे देखकर मार्गरेट सेंगर के महान त्याग व परिश्रम से अर्जित इस देन के प्रति मस्तक सहज ही झुक जाता है।

फरवरी १९१७ में मार्गरेट में 'बर्थकण्ट्रोल रिव्यू' नामकनई पत्रिका प्रकाशित की। इसके संपादन व व्यवस्था का सारा दायित्व वे अकेले ही संभालती थीं। इस पत्रिका द्वारा मार्गरेट ने आंदोलन को एक व्यवस्थित रूप देने के लिए चार-सूत्री कार्यक्रम अपनाया—आंदोलन, प्रचार, संगठन और पूर्व कानूनों में परिवर्तन। उनके विचार खूब फैलने लगे व जगह-जगह से उनकी सलाह मांगी जाने लगी। तब उन्होंने इंग्लैंड, स्काटलैण्ड, जर्मनी की पुनः यात्रा की और चारों ओर आंदोलन का प्रसार कर १९२१ में अमरीका लौट आईं। १९२१ में ही 'अमेरिकन

पब्लिक हेल्थ एसोसिएशन' के तत्त्वावधान में न्यूयार्क में राष्ट्रीय जन्म-नियंत्रण सम्मेलन हुआ। '[illegible] नैतिक है?' — इस विषय पर चर्चा वाले दिन मार्गरेट सभाभवन में पहुंचीं तो रास्ते-भर हज़ारों नर-नारी उन्होंने सभा-स्थल की ओर जाते देखे। पुलिस ने सभा पर पाबंदी लगा दी और मार्गरेट को भीतर जाने से रोक दिया। रोमन कैथोलिक चर्च के आर्कबिशप के आदेश पर यह पाबंदी लगाई गई थी व मार्गरेट फिर गिरफ्तार कर ली गईं।

मार्गरेट सेंगर की बार-बार की जेलबन्दी से अन्ततः लाभ हुआ। अमरीकी कानून में नये सुधार के अनुसार अब कोई भी डाक्टर किसी विवाहिता स्त्री को रोग से मुक्ति दिलाने के लिए गर्भ-निरोध-सम्बंधी सलाह दे सकता था। अब विश्व-भर में श्रीमती सेंगर को महिला समाज की महान उपकारकर्त्री के रूप में देखा जाने लगा और उन्हें सर्वत्र सम्मान मिलने लगा। पर यह सफलता शीघ्र ही नहीं मिली थी। इसकी एक लम्बी कहानी है।

इस आंदोलन का अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप विकसित होने पर मार्गरेट ने विभिन्न देशों का भ्रमण किया और अनेकों सभा-सम्मेलनों, गोष्ठियों व अभिनन्दन-समारोहों में अपना पैगाम सुनाया। सन् १९२१ में अमरीकी बर्थ-कण्ट्रोल कांग्रेस न्यूयार्क में हुई। १९२२ में उन्हें जापान के 'क्यूजो' नामक संगठन ने व्याख्यान-माला के लिए अपने देश में निमंत्रित किया। मार्गरेट सेंगर ने जापान जाने की स्वीकृति दे दी पर जापानी कौंसिल ने उन्हें वीसा देने से इंकार कर दिया। मार्गरेट हार कहां मानतीं! उन्होंने शंघाई का वीसा लिया और जहाज़ पर के जापानी यात्रियों की मदद से वहां पहुंच गईं। जापान उस समय जनसंख्या की अति से पीड़ित था इसीलिए सरकार के विरोध के बावजूद जनता की इस विषय में गहरी दिलचस्पी थी। सरकार उनके आगमन पर रोक लगा रही थी, जनता ने उनका भव्य स्वागत किया।

जापान से वे कोरिया गईं और कोरिया से चीन। चीन के बाद उनकी भारत आने की योजना थी पर ब्रिटिश सरकार के बाधा डालने पर रह गई। अमरीका वापस आकर १९२३ में उन्होंने 'रिसर्च ब्यूरो' स्थापित किया और अमेरिका में स्थान-स्थान पर 'बर्थ-कण्ट्रोल क्लीनिक' खुलवाए। १९२५ में उन्होंने तत्कालीन राष्ट्रपति को पत्र लिखकर जन्म-नियन्त्रण की सारी तफसील और सुझाव दिया कि इस समस्या की जांचकर समुचित समाधान खोजने के लिए एक कमीशन बैठाया जाए। १९२७ में जेनेवा में प्रथम विश्व जनसंख्या-सम्मेलन आयोजित करवाने में उन्हें सफलता मिली। वे स्वयं सामने नहीं आईं, पर सम्मेलन में केन्द्रीय व्यक्तित्व उन्हींका था। उनके काम में सर जूलियन हक्सेल व प्रसिद्ध यौनशास्त्री

हेवलाक एलिस ने भी भरपूर सहयोग दिया।

इस सम्मेलन के बाद मार्गरेट ने जर्मनी और स्विट्ज़रलैंड की यात्रा की। इस वार भी वे भारत आते-आते रह गईं। महात्मा गांधी ने गर्भ-निरोध के वैज्ञानिक उपकरणों के प्रयोग पर आपत्ति उठाई थी। तब भारतीय जनता पर गांधी जी की विचारधारा का प्रभाव प्रबल था और मार्गरेट सरकारों के नहीं, जनता के समर्थन के बल पर ही अपना आंदोलन आगे बढ़ाती आ रही थीं। मार्गरेट ने तब भारत आना स्थगित तो किया पर यह कह दिया, "काल की गति को कोई रोक नहीं सकता। जन्म-नियन्त्रण की आवश्यकता दिनों दिन स्पष्ट होती जा रही है। भारतीयों को इस आवश्यकता के आगे झुकना ही पड़ेगा।" आज उनका यही कथन कितना सत्य घटित हो रहा है!

फिर १९३५ में अ० भा० महिला सम्मेलन के प्रयत्नों से ही वे भारत आ सकीं। उनकी विचारधारा का असर तो पहले ही पहुंच चुका था, उनकी प्रेरणा से सम्मेलन की एक सक्रिय सदस्या लेडी रामा राव ने भारत में यह काम उठाने का ज़िम्मा ले लिया। इस प्रकार भारत सरकार द्वारा परिवार नियोजन कार्यक्रम अपनाए जाने से काफी पहले ही यहां महिलाओं द्वारा यह कार्य उठा लिया गया। ऐसी छोटी-छोटी विजय तो उन्हें हर पड़ाव पर मिलती थी।

एक बड़ी विजय उन्हें मिली १९३० में, जब अमेरिकी न्यायाधीश श्री ग्रोवर मास्कोविल्ज़ ने उनके खिलाफ एक सरकारी मुकदमे को रद्द कर दिया। अटार्नी जनरल श्री होमर कमिंग्स ने घोषणा की कि सरकार न्यायाधीश के निर्णय के विरुद्ध पुनः अपील नहीं करेगी। इस तरह परोक्ष रूप में अमेरिकी सरकार द्वारा जन्म-नियन्त्रण की आवश्यकता को स्वीकार कर लिया गया। मार्गरेट को इस विजय से और बल मिलना स्वाभाविक था।

श्रीमती मार्गरेट सेंगर का जन्म न्यूयार्क शहर में १४ सितम्बर, १८८३ को मिशायल तथा ऐन्न हिगिन्स के परिवार में छठी बालिका के रूप में हुआ था। पिता उदारचेता व स्त्री-स्वातन्त्र्य के समर्थक थे। उनके घर में एक अच्छा पुस्तकालय था। बालिका मार्गरेट ने इस पुस्तकालय का पूरा लाभ उठाया। पर वह दस भाई-बहनों में से एक थी, इसीलिए बचपन से ही उसे काम करना पड़ा। स्कूल छोड़कर कालेज गई तो प्लेटें धोकर अपना खर्च निकालती थी। फिर मां टी० बी० रोग से ग्रस्त हो गई तो पढ़ाई छोड़ भाई-बहनों को संभालने व मां की सुश्रूषा करने घर आना पड़ा। इसके बाद वह अस्पताल में नर्स के रूप में कार्य करने लगी।

अपनी मां की स्थिति से तो वह अवगत थी ही, ट्रक-ड्राइवर की पत्नी सैडी

सेक्स की छटना ने उसे और झकझोर दिया और वह नर्स के स्थान पर असहाय

नारी की पक्षधर के रूप में संसार के सामने आ गई।

श्रीमती मार्गरेट सेंगर १९५३ व १९५८ में दो बार फिर भारत आई। १९ फरवरी, १९५९ को नई दिल्ली में 'अन्तर्राष्ट्रीय परिवार-नियोजन सम्मेलन' के छठे अधिवेशन में बोलते हुए उन्होंने कहा, "१९१४ में जो काम मैंने एक बहुत छोटे रूप में उठाया था, आज उसे इस प्रकार विश्व भर में प्रतिफलित होते देख मुझे कितनी खुशी होती है, इसका अन्दाज़ा मेरे सिवाय दूसरा नहीं लगा सकता। तथाकथित नैतिक व धार्मिक विरोध आज समाप्त हो चुका है और संतति-निग्रह की आवश्यकता को लोग समझने लगे हैं। यह मेरी नहीं, जनमत की विजय है।" पर यह जनमत की विजय उनकी ही विजय थी। जीते जी अपनी कल्पनाओं, सपनों को साकार होते देखने का सौभाग्य कितनों को मिलता है? मार्गरेट अपने जीवन में ही गर्भनिरोध साधनों की सफलता देखने का सौभाग्य प्राप्त कर सकीं।

मार्गरेट सेंगर अक्सर कहा करती थीं, "संसार की वर्तमान सभ्यता पुरुषसमुदाय की सभ्यता है। नारी इसमें बच्चे पैदा करने की मशीन मात्र बनकर रह गई है। यह स्थिति असह्य है।" और उन्होंने इस स्थिति को बदलने में अपना पूरा जीवन खपा दिया। श्री नेहरू उनके बहुत बड़े प्रशंसक थे। इसी प्रकार संसार के अन्य अनेक राजनेता, चिकित्सा-विशेषज्ञ और विद्वान भी।

उनकी अथक सेवाओं के लिए १९३१ में और फिर १९३६ में दो बार उन्हें सम्मानित किया गया। फिर १९६५ में तो उनका स्थान विश्व की २० अग्रणी महिलाओं में से एक माना गया।

५० वर्ष तक लगातार महिला-कल्याण के इस कार्य में रत रहकर सितम्बर, १९६६ में ८३ वर्ष की आयु में उनका देहावसान हुआ। विश्व उनका ऋणी है और महिला समाज कृतज्ञ। भारत की तो आशाएं ही आज परिवार-नियोजन कार्यक्रम की सफलता पर केन्द्रित हैं। और आगामी पीढ़ियां! नियन्त्रित सुनियोजिन जनसंख्या वाला विकसित समाज क्या कभी उनकी देन को भुला सकेगा!

हेवलाक एलिस ने भी भरपूर सहयोग दिया।

इस सम्मेलन के बाद मार्गरेट ने जर्मनी और स्विट्जरलैंड की यात्रा की। इस बार भी वे भारत आते-आते रह गईं। महात्मा गांधी ने गर्भ-निरोध के वैज्ञानिक उपकरणों के प्रयोग पर आपत्ति उठाई थी। तब भारतीय जनता पर गांधी जी की विचारधारा का प्रभाव प्रबल था और मार्गरेट सरकारों के नहीं, जनता के समर्थन के बल पर ही अपना आंदोलन आगे बढ़ाती आ रही थीं। मार्गरेट ने तब भारत आना स्थगित तो किया पर यह कह दिया, "काल की गति को कोई रोक नहीं सकता। जन्म-नियन्त्रण की आवश्यकता दिनों दिन स्पष्ट होती जा रही है। भारतीयों को इस आवश्यकता के आगे झुकना ही पड़ेगा।" आज उनका यही कथन कितना सत्य घटित हो रहा है!

फिर १९३५ में अ० भा० महिला सम्मेलन के प्रयत्नों से ही वे भारत आ सकीं। उनकी विचारधारा का असर तो पहले ही पहुंच चुका था, उनकी प्रेरणा से सम्मेलन की एक सक्रिय सदस्या लेडी रामा राव ने भारत में यह काम उठाने का ज़िम्मा ले लिया। इस प्रकार भारत सरकार द्वारा परिवार नियोजन कार्यक्रम अपनाए जाने से काफी पहले ही यहां महिलाओं द्वारा यह कार्य उठा लिया गया। ऐसी छोटी-छोटी विजय तो उन्हें हर पड़ाव पर मिलती थी।

एक बड़ी विजय उन्हें मिली १९३० में, जब अमेरिकी न्यायाधीश श्री ग्रोवर मास्कोविल्ज़ ने उनके खिलाफ एक सरकारी मुकदमे को रद्द कर दिया। अटार्नी जनरल श्री होमर कमिंग्स ने घोषणा की कि सरकार न्यायाधीश के निर्णय के विरुद्ध पुनः अपील नहीं करेगी। इस तरह परोक्ष रूप में अमेरिकी सरकार द्वारा जन्म-नियन्त्रण की आवश्यकता को स्वीकार कर लिया गया। मार्गरेट को इस विजय से और बल मिलना स्वाभाविक था।

श्रीमती मार्गरेट सेंगर का जन्म न्यूयार्क शहर में १४ सितम्बर, १८८३ को मिशायल तथा ऐन्न हिगिन्स के परिवार में छठी बालिका के रूप में हुआ था। पिता उदारचेता व स्त्री-स्वातन्त्र्य के समर्थक थे। उनके घर में एक अच्छा पुस्तकालय था। बालिका मार्गरेट ने इस पुस्तकालय का पूरा लाभ उठाया। पर वह दस भाई-बहनों में से एक थी, इसीलिए बचपन से ही उसे काम करना पड़ा। स्कूल छोड़कर कालेज गई तो प्लेटें धोकर अपना खर्च निकालती थी। फिर मां टी० बी० रोग से ग्रस्त हो गई तो पढ़ाई छोड़ भाई-बहनों को संभालने व मां की सुश्रूषा करने घर आना पड़ा। इसके बाद वह अस्पताल में नर्स के रूप में कार्य करने लगी।

अपनी मां की स्थिति से तो वह अवगत थी ही, ट्रक-ड्राइवर की पत्नी सैडी

सेक्स की घटना ने उसे और झकझोर दिया और वह नर्स के स्थान पर असहाय नारी की पक्षधर के रूप में संसार के सामने आ गई।

श्रीमती मार्गरेट सेंगर १९५३ व १९५८ में दो वार फिर भारत आईं। १९ फरवरी, १९५९ को नई दिल्ली में 'अन्तर्राष्ट्रीय परिवार-नियोजन सम्मेलन' के छठे अधिवेशन में बोलते हुए उन्होंने कहा, "१९१४ में जो काम मैंने एक बहुत छोटे रूप में उठाया था, आज उसे इस प्रकार विश्व भर में प्रतिफलित होते देख मुझे कितनी खुशी होती है, इसका अन्दाज़ा मेरे सिवाय दूसरा नहीं लगा सकता। तथाकथित नैतिक व धार्मिक विरोध आज समाप्त हो चुका है और संतति-निग्रह की आवश्यकता को लोग समझने लगे हैं। यह मेरी नहीं, जनमत की विजय है।" पर यह जनमत की विजय उनकी ही विजय थी। जीते जी अपनी कल्पनाओं, सपनों को साकार होते देखने का सौभाग्य कितनों को मिलता है ? मार्गरेट अपने जीवन में ही गर्भनिरोध साधनों की सफलता देखने का सौभाग्य प्राप्त कर सकीं।

मार्गरेट सेंगर अक्सर कहा करती थीं, "संसार की वर्तमान सभ्यता पुरुषसमुदाय की सभ्यता है। नारी इसमें बच्चे पैदा करने की मशीन मात्र बनकर रह गई है। यह स्थिति असह्य है।" और उन्होंने इस स्थिति को बदलने में अपना पूरा जीवन खपा दिया। श्री नेहरू उनके बहुत बड़े प्रशंसक थे। इसी प्रकार संसार के अन्य अनेक राजनेता, चिकित्सा-विशेषज्ञ और विद्वान भी।

उनकी अथक सेवाओं के लिए १९३१ में और फिर १९३६ में दो बार उन्हें सम्मानित किया गया। फिर १९६५ में तो उनका स्थान विश्व की २० अग्रणी महिलाओं में से एक माना गया।

५० वर्ष तक लगातार महिला-कल्याण के इस कार्य में रत रहकर सितम्बर, १९६६ में ८३ वर्ष की आयु में उनका देहावसान हुआ। विश्व उनका ऋणी है और महिला समाज कृतज्ञ। भारत की तो आशाएं ही आज परिवार-नियोजन कार्यक्रम की सफलता पर केन्द्रित हैं। और आगामी पीढ़ियां ! नियन्त्रित सुनियोजित जनसंख्या वाला विकसित समाज क्या कभी उनकी देन को भुला सकेगा !

बीसवीं सदी की एक महान् नारी

एलीनोर रूज़वेल्ट

'बेस्ट नोन इन द वर्ल्ड' (विश्व में सर्वाधिक जानी जाने वाली)—यह थी श्रीमती एलीनोर रूज़वेल्ट के बारे में न्यूयार्क टाइम्स की राय, जबकि वे अपने पति राष्ट्रपति रूज़वेल्ट की मृत्यु के सात महीने बाद अप्रैल, १९४६ में संयुक्त राष्ट्र संघ के 'मानवीय अधिकार आयोग' की अध्यक्षा चुनी गईं। इसके पूर्व १९ दिसम्बर, १९४५ को जब तत्कालीन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने उन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ में अमरीका की प्रतिनिधि बनाकर भेजा और जनवरी, १९४६ में इस नाते उन्होंने लन्दन में आयोजित संयुक्त राष्ट्रों के प्रथम सम्मेलन में भाग लिया, तब यह सम्मान पाने वाली विश्व की वे प्रथम महिला थीं। उन्हें अमरीका की सर्वाधिक भ्रमणशील और अध्ययनशील नारी भी कहा गया है और बीसवीं सदी की सर्वाधिक लोकप्रिय नारी भी। समाज-कल्याण कार्यों में महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करने वालों तथा विश्व शांति व विश्व-मानवता की स्थापना में योग देने वालों में भी उनका नाम अग्रिम

पंक्ति में लिया जाता है ।

इस महत्त्वपूर्ण नारी की ७८ वर्ष की उम्र में भी युवकों की-सी तत्परता, गतिशीलता और अदम्य उत्साह में देखकर सारा संसार श्रद्धानत हो जाता था। अपने भाषणों, लेखों और गम्भीर चिन्तनमय सूत्र-वाक्यों से उन्होंने विश्व-भर के बुद्धिजीवियों का ध्यान आकर्षित कर लिया था। अनेकों पत्र-पत्रिकाओं के लिए वे लेख लिखती थीं जो प्राय: भ्रमण के दौरान रेल, जहाज़, होटल आदि के सीमित अवकाश में लिखे जाते थे। अमरीका के एक विशिष्ट पत्र में तीन वर्ष तक अपनी दैनिकचर्या भी लिखती रहीं, जिसे अमरीका से बाहर भी बड़े चाव से पढ़ा जाता था। उनके भावों और विचारों से प्रभावित हो संसार में उनके लाखों प्रशंसक थे। इसके अतिरिक्त देश की अनेकों संस्थाओं से उनका सम्बंध था। अमेरिका व दूसरे देशों से सैकड़ों महिलाओं के पत्र उनके पास आते थे, जिनमें तरह-तरह के व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक, अन्तर्राष्ट्रीय व मानवीय समस्याओं से सम्बन्धित प्रश्न पूछे जाते थे। इन पत्रों की संख्या प्रतिदिन सात सौ से भी अधिक कूती गई थी। बहुत-से पत्रों का व्यक्तिगत उत्तर दिया जाता। शेष प्रश्नों व समस्याओं को वर्गों में बांटकर उनपर कालम व लेख लिखे जाते। १९४१ में 'लेडीज़ होम जर्नल' का प्रकाशन कर उन्होंने विश्व महिला-अधिकारों की मांग को एक सशक्त माध्यम प्रदान किया। अधिक वेतन, अधिक सुविधाएं और सम्मान की मांग को बल प्रदान करने के साथ श्रीमती रूज़वेल्ट ने अपनी पाठिकाओं को एक स्वस्थ मानसिक प्रशिक्षण भी दिया। अमेरिकी जनता पर, विशेष रूप से महिलाओं पर उनकी सशक्त कलम का अनोखा प्रभाव था, जो बढ़ते-बढ़ते विश्व-भर की स्त्रियों तक फैल गया। अपने समय की जीवित स्त्रियों में विश्व की सर्वाधिक प्रशंसित महिला थीं वे। ऐसा सम्मान अपने जीवनकाल में बहुत कम व्यक्तियों को नसीब होता है।

अन्ना एलीनोर रूज़वेल्ट का जन्म ११ अक्तूबर, १८८४ में, न्यूयार्क में हुआ। अमेरिका के २५वें राष्ट्रपति थिओडोर रूज़वेल्ट की वे भतीजी थीं और इलियट व अन्ना रूज़वेल्ट की पुत्री। अन्ना और इलियट दोनों ही समृद्ध व प्रसिद्ध घरानों से सम्बन्धित थे। पिता एक कुशल खिलाड़ी के रूप में विख्यात थे और माता अपने समय की अद्वितीय सुन्दरी। अन्ना एलीनोर का बचपन काफी लाड़-प्यार में बीता। पर आठ वर्ष की आयु में बालिका अन्ना को मां की गोद से तथा नौ वर्ष की आयु में पिता की छाया से वंचित होना पड़ा। फिर पालन-पोषण नानी ने किया। प्रारंभिक शिक्षा अधिकांशत: घर पर ही हुई। 'दिस इज़ माई स्टोरी' नामक आत्मकथा में अपने बचपन के बारे में लिखते हुए वे कहती हैं, "लेकिन मेरी वास्तविक

शिक्षा तब तक नहीं शुरू हुई, जब तक कि १५वें वर्ष में मैं पहली बार विदेश नहीं गई।" इससे उनकी भ्रमणशील प्रवृत्ति का पता चलता है। १५ साल की उम्र तक वे नितान्त अकेली और उदास रहीं। तीन साल तक इंग्लैंड के एक स्कूल में रहने पर ही यह अभाव भरा। वहीं से घूमकर दुनिया देखने और सीखने-सिखाने की चाह भी पैदा हुई।

अठारह साल की उम्र में वापस न्यूयार्क आकर उन्होंने 'कज़िन' श्री पैरिश और उनकी पत्नी के साथ मिलकर अपना घर बसाया। विवाह के पूर्व कुछ समय रीविंगटन स्ट्रीट सेटिलमेंट हाउस में अध्यापन भी किया। उनके पांचवें कज़िन श्री फ्रैंकलिन डिलोनो रूज़वेल्ट तब हावर्ड यूनीवर्सिटी के एक अण्डर ग्रेजुएट छात्र थे। उनकी ओर से प्रस्ताव आया पर फ्रैंकलिन की मां की असहमति के कारण तीन वर्ष तक विवाह स्थगित रहा। फिर १७ मार्च, १९०५ को, जबकि राष्ट्रपति थिओडोर रूज़वेल्ट वर-वधू को आशीर्वाद देने के लिए न्यूयार्क में उपस्थित थे, फ्रैंकलिन और एलीनोर विवाह-सूत्र में बंध गए। विवाह के समय यह भावी राष्ट्रपति कोलम्बिया यूनिवर्सिटी के ला-स्कूल का एक साधारण छात्र था। शुरू के वैवाहिक वर्षों में श्रीमती रूज़वेल्ट अपने कज़िन हेनरी पैरिश व उनकी पत्नी पर ही प्रायः निर्भर रहीं। उनके सम्पर्क में उन्होंने सामाजिक दायित्वपूर्ण जीवन का पहला पाठ सीखा।

जनवरी, १९११ में जब फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट न्यूयार्क स्टेट के सीनेटर चुने गए तब एलीनोर के तीन बच्चे थे। तभी उन्हें शासन व राजनीति के संपर्क में आने का प्रथम अवसर मिला। १९१३ में जब फ्रैंकलिन जल सेना के असिस्टेंट सेक्रेटरी नियुक्त हुए तो आम सरकारी अधिकारियों की पत्नियों की तरह श्रीमती रूज़वेल्ट का मुख्य काम स्वागत-सत्कार का हो गया। १९२० में डेमोक्रेटिक पार्टी के टिकट पर फ्रैंकलिन उपराष्ट्रपति के चुनाव में खड़े हुए तो श्रीमती रूज़वेल्ट को राजनीति का प्रशिक्षण लेने का पुनः अवसर मिला। पर यह उनकी रुचि का काम न था। चुनाव में हार जाने पर फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट ने अपनी कानून की प्रेक्टिस शुरू कर दी तथा श्रीमती रूज़वेल्ट ने टाइपिंग, शार्टहैंड सीखकर 'लीग आफ वूमेन वोटर्स' के बोर्ड में नौकरी कर ली। यहीं से उनका सम्पर्क महिला संस्थाओं से स्थापित हुआ, जो क्रमशः बढ़ता गया। उन्होंने लीग के प्रशासन के बजाय संगठन में रुचि ली। 'वूमैन ट्रेड यूनियन' में और 'स्टेट डेमोक्रेटिक पार्टी' के वूमेन डिवीज़न में चार साल तक काम किया। इन्हीं दिनों नौजवानों को पार्ट टाइम काम देने के लिए हाइड पार्क में 'वाल किल फर्नीचर' वर्कशाप व दुकान खोली। किसीसे मिलकर एक प्राइवेट

स्कूल चलाया, जिसमें वे वाइस प्रिंसिपल थीं और अर्थशास्त्र व समाजशास्त्र

पढ़ाती थीं। अन्य अनेक सामाजिक संस्थाओं में भी सक्रिय भाग लिया। इस तरह वे राजनीति व समाजसेवा में साथ-साथ सक्रिय हो गई थीं। १९२० के चुनाव में हार के बाद १९२१ में जब फ्रैंकलिन लकवे के शिकार हुए तो एक आदर्श पत्नी के कर्तव्य से एलीनोर ने उनकी सेवा ही नहीं की, उन्हें मानसिक उपचार भी दिया। राजनीति में पुन: उनकी रुचि विकसित करने से धीरे-धीरे वे स्वास्थ्य-लाभ करते गए। १९२८ में श्री फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट न्यूयार्क के गवर्नर बने और श्रीमती रूज़वेल्ट डेमोक्रेटिक पार्टी के वूमेन विंग की इंचार्ज। इस नाते उन्होंने विंग का राष्ट्रीय स्तर पर विस्तार किया। अब रूज़वेल्ट दम्पति एक राजनीतिक टीम थे।

४ मार्च, १९३३ को श्री फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट अमरीका के ३२वें राष्ट्रपति चुने गए और 'फर्स्टलेडी' के रूप में श्रीमती एलीनोर रूज़वेल्ट का 'ह्वाइट हाउस' के बारह वर्षीय जीवन का प्रारम्भ हुआ। इस नये दायित्व के कारण उन्हें अपने स्कूल का, पत्रिकाओं की सम्पादकी का, संस्थाओं के पदाधिकारी का—कई काम छोड़ने पड़े। कमर्शियल रेडियो प्रोग्राम भी बन्द करने पड़े, लेकिन समाज कल्याण संस्थाओं से उनका सम्पर्क और बढ़ गया।

ह्वाइट हाउस में 'फर्स्ट लेडी' के नाते श्रीमती रूज़वेल्ट ने कई नई परम्पराएं स्थापित कीं। पहले दिन ही महिला-पत्रकारों की कांफ्रेंस बुलाकर उन्होंने सबको चकित कर दिया था। ह्वाइट हाउस के इतिहास में अपने ढंग की यह पहली घटना थी जिसने श्रीमती रूज़वेल्ट को प्रथम दिन से ही चर्चा का विषय बना दिया। एक नया कदम उन्होंने और उठाया। राष्ट्रपति रूज़वेल्ट को पद ग्रहण के बाद जन-सम्पर्क दौरा करना था, पर उनका स्वास्थ्य ठीक न था। श्रीमती रूज़वेल्ट ने यह काम स्वयं अपने ऊपर ले लिया और दौरे के बाद सभी स्थानों व योजनाओं के बारे में अपनी अनुभवजन्य रिपोर्ट तैयार करके राष्ट्रपति के सामने प्रस्तुत कर दी। अमेरिका के इतिहास में राष्ट्रपति के बिना अकेली पत्नी का दौरा पहली व अनोखी घटना थी। जिसकी खूब आलोचना हुई। प्रेस ने कार्टून बनाकर व टिप्पणियां छापकर उनकी खूब खबर ली। पर इससे श्रीमती रूज़वेल्ट जनता के और भी सामने आ गईं। फिर जब १९३६ से १९३८ तक एक प्रमुख पत्र में उन्होंने लगातार अपनी दैनिकचर्या लिखी, तब तो वह लोगों के दिलो-दिमाग पर छा गईं थीं।

ह्वाइट हाउस के अपने जीवनकाल में उन्होंने कई सरकारी बिलों के समर्थन में लेख भी लिखे। एक पत्र ने तो यहां तक लिखा था कि राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के अधिकांश स्टेटमेंट्स भी उन्हींके लिखे हुए होते थे। १९४१ से 'लेडीज़ होम

जर्नल' में प्रश्नोत्तर स्तम्भ भी वे लिखने लगी थीं। इसी जर्नल के माध्यम से विश्व महिला अधिकारों को उन्होंने प्रमुख स्वर प्रदान किया। १९४१ में ही श्रीमती रूज़वेल्ट सिविलियन डिफेंस की असि० डायरेक्टर नियुक्त की गई थीं। पर कुछ नियुक्तियां करने पर जब उनकी आलोचना की गई तो अधिकारों पर आघात सहन न कर इस स्वाभिमानी महिला ने पद से त्यागपत्र दे दिया। युद्ध के दिनों में उन्होंने ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया और दक्षिण प्रशान्त महासागरीय देशों का दौरा कर मित्र राष्ट्रों में आत्मबल व अमेरिकी सद्भाव बढ़ाने का प्रयत्न किया।

पर उनका वास्तविक कार्य शुरू होता है, १९४५ से। १९ अप्रैल, १९४५ को राष्ट्रपति रूज़वेल्ट की मृत्यु हो जाने पर राजनीति व समाज-कार्य से संन्यास लेने के बजाय श्रीमती रूज़वेल्ट को और खुलकर सामने आने तथा अधिक स्वतन्त्रता-पूर्वक कार्य करने का अवसर मिला। इस मोड़ के बाद राजनीति में उनका कार्य जितना सीमित होता गया, सामाजिक क्षेत्र में उतना ही बढ़ता गया। संयुक्त राष्ट्र मानवीय अधिकार-आयोग की अध्यक्षा के नाते विश्व-शांति की दिशा में की गई उनकी सेवाएं विश्व-इतिहास की एक निधि हैं। नवम्बर, १९४८ में उन्होंने बड़ी निर्भीकता से अपनी यह महत्त्वपूर्ण राय व्यक्त की थी कि अमेरिका रूस से सद्भाव बढ़ाए। अमेरिका की विदेशों में सेवा भी उनके लेखों का एक मुख्य विषय था। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में अमेरिकी संस्कृति के प्रसार में उनका प्रमुख हाथ है। अनेक सामाजिक दुर्व्यवस्थाओं को दूर करने, दलितों-पीड़ितों की सहायता करने, माताओं और बालकों को संरक्षण प्रदान करने, युवक और महिला-संगठनों, आन्दोलनों को वल प्रदान करने, घरेलू उद्योग-धन्धों को समृद्ध बनाने, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध सुधारने तथा पिछड़े राष्ट्रों को उठाने में अपनी सशक्त लेखनी और भाषणों-व्याख्यानों का उन्होंने भरपूर प्रयोग किया। जनता के स्वास्थ्य-शिक्षण, सुरक्षा के लिए तथा मानव-जाति के नैतिक उत्थान के लिए उनके एक-एक मिनट का उपयोग था।

अनुमान है कि श्रीमती रूज़वेल्ट ने अपने विश्व-भ्रमण के दौरान २,५०,००० मील की यात्रा की होगी। वे भारत भी आई थीं। ५ फुट ११ इंच की ऊंचाई, सुंदर व्यक्तित्व, स्वस्थ शरीर, खुला मस्तिष्क, सन्तुलित, सुलझे विचार, व्यवस्थित दिनचर्या, धारा-प्रवाह ओजस्वी संभाषण, परिश्रमशीलता, आत्मसंयम और धैर्य —सब मिलाकर श्रीमती रूज़वेल्ट का प्रभाव एक जादू की तरह काम करता था। जहां भी जातीं, वहीं से कुछ सीखतीं और कुछ बांटकर चली आतीं। मन्त्रमुग्ध से लोग उनकी वाणी और विचारों की अजस्र धारा में बहते रहते। और जब जाते तो उन्हें लगता, जैसे उनका नया जीवन शुरू हुआ हो। शायद ही किसी और

नारी ने विश्व के इतने अधिक सुन्दर और असुन्दर—विविध क्षेत्रों में भ्रमण किया हो। अनाथालय, कारखाने, जेल, स्कूल, नर्सरी-स्कूल, गन्दी बस्तियां, ऐतिहासिक, पौराणिक खण्डहर और रमणीय प्राकृतिक स्थल सभी उनके आकर्षण के केन्द्र थे। सभी से उन्हें लगाव था। मनोरंजन के क्षण उनके बहुत सीमित थे—यदा-कदा आर्ट गैलरियों का निरीक्षण या ऊंचे स्वर में कविता-पाठ, बस। शेष सारी यात्राएं और पड़ाव उनके अध्ययन, चिन्तन, लेखन और दूसरों को किसी न किसी तरह कुछ बांटते चलने के प्रयास से सम्बन्धित थे। भावुकता के लिए तो उनके जीवन में बहुत ही कम स्थान था। वे एक सफल प्रशासक, संगठनकर्त्री, महत्त्व-पूर्ण निर्णय लेने वाली तथा संकट की घड़ी में भी स्थिर, तटस्थ रहने वाली नारी थीं। उनका एक-एक क्षण उपयोगी, मूल्यवान और जन-कल्याण को समर्पित था।

'इंस्टीट्यूट आफ पब्लिक ओपीनियन' द्वारा १९४८ में आयोजित एक सर्वे-रिपोर्ट में उन्हें तत्कालीन जीवित दस महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों में सर्वाधिक प्रशंसित घोषित किया गया। कई विश्वविद्यालयों ने उन्हें आनरेरी डिग्रियां देकर सम्मानित किया। अनेक महिला-संस्थाओं और पत्रिकाओं द्वारा उनके सम्मान में समारोह आयोजित किए गए। १९३९ में मानवतावादी संघ से पुरस्कृत हुईं और उसी वर्ष 'चर्चमैन एवार्ड' भी पाया। प्रथम राष्ट्रीय (वार्षिक) पुरस्कार उन्हें १९४० में और 'फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट ब्रदरहुड एवार्ड' १९४६ में मिला। १९४९ में 'वूमेन होम कम्पेनियन' द्वारा भी उन्हें 'सर्वाधिक लोकप्रिय महिला' ठहराया गया।

अक्तूबर, १९६२ को इस कर्मठ महिला के निधन पर विश्व-भर में शोक-सभाएं हुईं। 'मानवता की महान मित्र' कहकर उन्हें श्रद्धांजलियां अर्पित की गईं। लाखों सन्देश भेजे गए और सभी पत्र-पत्रिकाओं में उनपर लेख, कालम और सम्पादकीय लिखे गए। अन्तिम वर्षों में हाइड पार्क की एक निर्जन 'काटेज' में रह-कर शांति से जीवन बिताती हुई भी वे सामाजिक क्रिया-कलापों और अध्ययन-चिन्तन में उसी प्रकार संलग्न रहीं। क्षीण वृद्धावस्था में भी उनकी आंतरिक शक्ति में कुछ भी कमी नहीं आई थी। इसीलिए तो वह जन-जन की प्रेरणा बन गईं और आधुनिक जागरित नारी के लिए महान आदर्श। उनके प्रेरक सूत्र-वाक्य आज भी लोगों की ज़ुबान पर, पुस्तकों, डायरियों और पत्र-पत्रिकाओं के 'फिलर्स' में सुरक्षित हैं।

वर्ल्ड चीफ गाइड

लेडी ओलेब बेडन पावेल

१६ अक्तूबर १९६६। पूना में गर्ल-गाइड के चौथे विश्वकेन्द्र और पहले एशियाई केन्द्र का उद्घाटन हुआ। केन्द्र का नाम रखा गया 'संगम' और उद्घाटन-कर्त्री थीं—'वर्ल्ड चीफ गाइड' लेडी ओलेव बेडन पावेल।

इस अवसर पर बोलते हुए श्रीमती बेडन पावेल ने कहा, "संगम की एशियाई देश में स्थापना इस बात का संकेत है कि यह केन्द्र पूर्वीय और पश्चिमी संस्कृतियों का संगम होगा। विश्व-भर की गर्ल-स्काउट और गाइड नेत्रियां यहां 'कैम्प फायर' के रूप में एकत्रित होकर विश्व-भ्रातृत्व भावना का विकास करेंगी।" यह विश्व-भ्रातृत्व भावना लेडी बेडन पावेल का एक सपना है, जिसे वह अपने ढंग से पूरा करने के लिए प्रयत्नशील हैं। अपने इसी सपने में झांकते हुए उन्होंने कहा, "जो काम राजनीतिज्ञ नहीं कर पाए, उसे तरुण-पीढ़ी की गर्ल-गाइड सम्भव बना सकती है। मैं चाहती हूं, वह यह सम्भव कर दिखाए।"

लेडी वेडन पावेल इसके पूर्व दिसम्बर, १६६० में भी भारत आ चुकी हैं। तब बंगलौर में तीसरी अ० भा० जम्बूरी में शामिल हो। कुछ समय उन्होंने दक्षिण में नीलगिरि की पहाड़ियों में बिताया था। फिर पूरे भारत, वर्मा और पाकिस्तान का दौरा करती हुई लौटी थीं। उनकी इस यात्रा के दौरान स्थान-स्थान पर स्काउट व गाइड की रैलियां आयोजित कर उनका स्वागत किया गया। जगह-जगह वे स्काउट गाइड गतिविधियों का निरीक्षण करतीं, स्थानीय लोगों से मिलतीं, उनसे परिचय प्राप्त करतीं और फिर आगे वढ़ जातीं।

पिछले लगभग चालीस वर्षों से उनके जीवन का यही क्रम चल रहा है। गर्ल-गाइड आंदोलन को विश्व-भर में फैलाने और उसे सफलतापूर्वक चलाने के लिए उन्होंने विश्व के सभी देशों की यात्राएं की हैं। निरन्तर करती रहती हैं। इसीलिए विश्व की सर्वाधिक घुमक्कड़ महिला मानी जाती हैं। पूरा संसार ही उनका जैसे घर है। लन्दन स्थित उनके घर का स्थान उसमें वही है जैसे यात्री का कोई भी एक पड़ाव। उनके जीवन का प्रत्येक क्षण एक ध्येय को समर्पित है, उस ध्येय को, जिसमें उनके पति (वर्ल्ड चीफ स्काउट श्री वेडन पावेल) उन्हें लगा गए।

ओलेव का जन्म २२ फरवरी, १८८६ को वोर्नमाउथ में हुआ। संयोग से उनके पति श्री बेडन पावेल की जन्म तिथि भी २२ फरवरी ही है। शायद तभी उन्हें जीवन में एक जैसा काम और सम्मान मिला। बालिका ओलेव एक सामान्य लड़की की तरह सुविधापूर्ण वातावरण में पलीं और पढ़ीं। वचपन से ही उन्हें भ्रमण और आउटडोर खेलों का शौक था। उनके अन्य शौक थे: जानवरों को प्यार से पालना, वायलिन वजाना और गाना। गर्ल-गाइड की लड़कियों में प्रायः ही ये शौक आज भी पाए जाते हैं: इसके साथ अपने गांव और समाज की सेवा की लगन भी उनमें थी। अभावग्रस्त वच्चों को अक्सर पढ़ाया करती थीं। आगे चलकर यही भावनाएं उन्होंने गर्ल-गाइड में भरीं।

१६१२ में अपने पिता के साथ जव वह समुद्री यात्रा पर निकलीं, तभी जहाज़ पर उनकी भेंट स्काउट-जनरल बेडन पावेल से हुई और जुमैका पहुंचकर दोनों प्रणय-सूत्र में बंध गए। उसी वर्ष अक्तूबर में श्री वेडन पावेल से उनका विवाह हो गया। विवाह के शीघ्र बाद ही श्रीमती ओलेब वेडन पावेल ने अपने पति की स्काउट गतिविधियों में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया था, क्योंकि स्काउट-गाइड के आदर्शवादी मानवीय सिद्धांत उनकी मूल प्रकृति के अनुकूल थे।

स्काउट-आंदोलन की महिला शाखा गर्ल-गाइड की स्थापना उनके विवाह से दो वर्ष पूर्व, १६१० में हो चुकी थी। श्रीमती वेडन पावेल ने १६१४ में ही

गाइड का काम संभाल लिया और १९१६ में सुसैक्स की 'काउंटी-कमिश्नर' बन गईं। फिर १९१८ में उन्हें 'चीफ गाइड' घोषित कर दिया गया और १९३० में 'ब्रिटिश गाइडर्ज़ ट्रेनिंग सेंटर' में आयोजित एक कांफ्रेंस में २८ देशों की प्रतिनिधियों द्वारा सर्वसम्मति से चुनी जाकर 'वर्ल्ड चीफ गाइड' बन गईं। इसके दो वर्ष बाद १९३२ में एच० एम० किंग जार्ज पंचम ने उन्हें 'डेम ग्रैंड क्रास' नाम के 'आर्डर आफ ब्रिटिश एम्पायर' से सम्मानित किया। यह एक बहुत बड़ा सम्मान था जो उनके कार्य को विश्व में मान्यता दिलाने में सहायक हुआ।

गाइड-आंदोलन को ब्रिटेन के बाहर अन्य देशों में प्रसारित करने के लिए प्रयत्न तो उन्होंने प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के साथ ही प्रारंभ कर दिए थे। एक अन्तर्राष्ट्रीय कौंसिल बना दी गई थी। इस संगठन ने १९२० से १९२८ के बीच पांच अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किए। दो विश्व महायुद्धों के बीच के समय में गाइड-आंदोलन प्रायः सभी देशों में फैल चुका था। चीफ-गाइड श्रीमती बेडन पावेल और चीफ स्काउट श्री बेडन पावेल सभी देशों का दौरा करते थे और सभी जगह उनका शानदार स्वागत होता था। अपने घर तो उनका कभी-कभी ही लौटना होता था। श्री बेडन पावेल अफ्रीकी देशों में इस आंदोलन को विशेष रूप से फैलाना चाहते थे, इसलिए कैन्या में उन्होंने अपना दूसरा घर बना रखा था। वहीं १९४१ में उनका देहांत हो गया। उसके बाद तो श्रीमती बेडन पावेल को जैसे और कोई काम ही न रह गया था। अपना पूरा जीवन और पूरा समय उन्होंने गाइड-आंदोलन को समर्पित कर दिया।

द्वितीय महायुद्ध में कार्य में कुछ शिथिलता आई। उसके बाद १९४५ से लेडी बेडन पावेल ने गाइड-आंदोलन को दूनी गति से आगे बढ़ाया। १९४५ में उन्होंने १६ यूरोपीय देशों का दौरा किया। १९४६ में उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका गईं। १९४७ में आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड। फिर १९४७ से तो प्रतिवर्ष उनकी विदेश-यात्राएं होती रही हैं। विश्व-भर में यहां-वहां मीटिंगें, सम्मेलन, लेक्चर्स, रेडियो-प्रसारण, रैलियां—बस वर्ष-भर यही क्रम और हज़ारों मील की यात्रा। सभी देशों के लोगों से प्यार। सभी से मिलने को उत्सुक। हर जगह तरुणियों में गाइड का मानवीय सन्देश पहुंचाने को आतुर। नई पीढ़ी के चरित्र-निर्माण की चिन्ता और भावी विश्व में एक समान भाईचारे की भावना का सपना लिए बेहद उत्साही और परिश्रमी लेडी बेडन पावेल का व्यक्तित्व एक लोकप्रिय विश्व-व्यक्तित्व है। किसीके लिए विदेशी नहीं। हर देश के बालक-बालिकाएं इस नाम से खूब-खूब परिचित हैं और अधिकांश उन्हें अपने देश की ही समझते हैं।

श्रीमती बेडन पावेल कुशल वक्ता ही नहीं, अद्भुत संगठनकर्त्री भी हैं।

इसका कारण है उनका मधुर स्वभाव और हर किसीसे अपनेपन की भावना। यही उनकी सफलता का रहस्य भी हैं। उन्होंने श्री विलियम हिलकोर्ट के साथ

मिलकर अपने पति पर एक पुस्तक भी लिखी है : वेडनपावेल 'द टू लाइव्ज़ आफ ए हीरो।' उनके भाषण और लेख तो सर्वत्र बिखरे हुए हैं।

लेडी वेडन पावेल की लोकप्रियता और सफलता से प्रभावित हो उन्हें अनेकों बार सम्मानित किया गया। 'पुर्तगाल का सर्वोत्तम स्काउट एवार्ड', 'सिल्वर वुल्फ', 'ब्रोंज वुल्फ', 'वुड वैज आफ द व्वाय स्काउट्स', 'कैनेडियन स्काउट एवार्ड,' 'सिल्वर फोक्स' और न जाने क्या-क्या। इसी तरह ग्रीस, फिनलैंड, हैती, चिली, पेरू, पनामा, लेवनान, जापान आदि देशों के सम्मानसूचक विशेष 'आर्डर' भी उन्हें मिले हैं। 'वर्ल्ड चीफ गाइड' के रूप में देश-विदेश के अनेक नगरों की 'फ्रीडम' भी उन्हें प्रदान की गई।

गाइड की परम्परा में असाधारण काम कर दिखाने वाली लड़की को 'सिल्वर-फिश' वैज दिया जाता है। श्रीमती वेडन पावेल को १६१६ में ही 'गोल्ड फिश' से सम्मानित किया गया था।

इस प्रकार लेडी वेडन पावेल एक ऐसा नाम है जो संसार भर में हर गाइड की, हर लड़की की और हर महिला की प्रेरणा बन गया है।

गुरिल्ला युद्ध की शहीद निर्भीक बाला

ज़ोया कास्मोदेमिंस्क्या

"मेरा नाम ज़ोया क्यों रखा गया है मां, यह तो एक रूसी नाम है ?" इंग्लैंड की एक ज़ोया नामक लड़की ने ज़रा बड़ी होते ही अपनी मां से पूछा।

"हां बेटी, यह रूसी नाम ही है। तुम्हें यह बताना है कि आज से दो दशक पहले रूस में ज़ोया कास्मोदेमिंस्क्या नाम की एक बहुत ही बहादुर और देश-भक्त लड़की हुई थी, जिसने शत्रुओं के हाथों खील-खील होकर अपनी जान दे दी पर जो अन्त तक कहती रही, 'चाहे कैसी ही विकट परिस्थिति, भीषण यन्त्रणा या विवशता क्यों न हो, शत्रु के आगे न घुटने टेको, न दया की भीख मांगो।' और उसने अन्त तक वही किया। उसे लोग 'सोवियत यूनियन की हीरोइन' नाम से जानते हैं। यह उपाधि रूस सरकार ने उसे मरणोपरांत प्रदान की थी। मैं चाहती हूं, मेरी बेटी भी अपने देश की ऐसी ही बहादुर और निडर हीरोइन बन कर चमके। इसीलिए मैंने तुम्हारा नाम ज़ोया रख दिया।"

लड़की ने सुना तो गद्‌गद हो गई। उसकी उत्सुकता जागरित हो गई थी। फिर मां ने उसे ज़ोया कास्मोदेमिंस्क्या की शहादत की पूरी कहानी कह सुनाई।

और यह है रूसी ज़ोया की वह कहानी जो इंग्लैंड की ज़ोया को उसकी मां ने सुनाई : ज़ोया का जन्म १६२३ में एक ग्रामीण कृषक परिवार में हुआ। गोरा रंग, घुंघराले बाल, लाल ओंठ और चमकती आंखों वाली ज़ोया एक बड़ी ही प्यारी और चंचल लड़की थी। जब वह छः वर्ष की थी तो उसे परिवार के साथ साइबेरिया के जंगलों में रहने का अवसर मिला। माता-पिता देखकर हैरान रह जाते कि ज़ोया खूंखार जानवरों से डरे बिना अकेली जंगल में दूर-दूर तक निकल जाती थी और फिर मनोरम प्राकृतिक स्थल खोजकर घण्टों नदी, हरियाली, पेड़ों, फूलों और चट्टानों का सौन्दर्य निहारा करती थी। जंगली फूलों और फलों को इकट्ठा करने में उसे बड़ा आनन्द आता था। इकट्ठा करके उन्हें स्थानीय गरीब परिवारों के बच्चों में बांटती और अजनबी गांववालों के पास बैठकर बतियाती। माता-पिता चिन्तित होते कि कहीं लड़की को कुछ हो न जाए। वे उसे अकेले बाहर निकलने के लिए डांटते, पर भीतर ही भीतर कहीं खुश भी होते कि लड़की इतनी समझदार और बहादुर है।

आठ वर्ष की आयु में ज़ोया परिवार के साथ मास्को लौट आई और नियमित पढ़ाई में लग गई। परीक्षाओं में प्रथम आने के साथ सामान्य अध्ययन में भी उसे इतनी रुचि थी कि छोटी-सी उम्र में ही उसने बड़े-बड़े प्रसिद्ध लेखकों की अनेक भारी-भारी, गम्भीर और महान कृतियां पढ़ डालीं। उसके स्कूल-जीवन की कापियों और डायरी में शेक्सपियर, बायरन, डिकेन्स, टालस्टाय, गेटे, एलेग्ज़ेंडर नेवस्की, माइखेल कुटुज़ोव आदि की जीवनियों और कृतियों पर नोट्स और किशोर-सुलभ समीक्षाएं देखकर लोग दंग रह जाते हैं। कहीं-कहीं तो ऐसे नीति-वाक्य भी उनमें लिखे हुए हैं जैसे ज़ोया कोई अल्हड़ किशोरी नहीं, एक संत प्रौढ़ा थी। पन्द्रहवें तक आते-आते वह समाज-सेवा क्षेत्र में भी उतर पड़ी थी। पिता नहीं रहे थे। मां फैक्टरी में काम करती थी। ज़ोया पढ़ती, बाहर के सेवा-कार्यों में भाग लेती और घर पर मां के काम में भी पूरा हाथ बंटाती। चिन्ता के समय मां को ऐसे धैर्य बंधाती जैसे वह उसकी बेटी नहीं, संरक्षिका हो।

फिर एक दिन उसने सुना, रूस पर जर्मनी ने आक्रमण कर दिया है। उसे यह सोचकर दुःख हुआ कि सेना में लड़कियों को भरती क्यों नहीं किया जाता ? क्या वे बहादुरी से नहीं लड़ सकतीं ? और कभी न रोने वाली यह लड़की एक दिन लड़कियों की इसी बाधता पर रोने लगी। निरपराधों पर बमवर्षा होते देख-कर उसके होंठ भिंच जाते, नथुने क्रोध से फड़फड़ाने लगते और आंखों में संकल्प

कौंध जाता। ज़ोया फायरब्रिगेड में भरती होकर हवाई हमले से बचाव की ड्यूटी पर तैनात हो गई। उन्हीं दिनों की उसकी डायरी में लिखा हुआ मिलता है, "मां, मैं जानती हूं कि पिता के बाद तो मैं तुम्हारे लिए पुत्र से भी बढ़कर हूं। मेरे जाने के बाद तुम्हारा दुःखमय जीवन और दुखी हो जाएगा...पर...पर मुझे जाना ही होगा। देश मुझे पुकार रहा है। अपना निश्चय अब मैं बदल नहीं सकती।" और एक दिन सुबह मां को बिना बताए ज़ोया घर से चली गई। मां डरीं, कहीं लड़की फौज में भर्ती न हो जाए। उनका डर सच निकला। ज़ोया लौटी तो चेहरे पर एक निश्चय की चमक लिए। उत्साह से भरकर उसने मां को प्यार से भींचा, फिर धीरे-धीरे फुसफुसाकर बोली, "मैं लड़ाई में जा रही हूं मां, गुरिल्ला फौज में मुझे ले लिया गया है। तुम किसीसे कुछ बताना नहीं।"

मां सहमकर चुप हो गईं। उन्हें पता था, लड़की मानेगी नहीं। फिर भी भरे गले से बोलीं, "लेकिन...लेकिन तुम तो लड़की हो। कहीं..." ज़ोया ने तुरन्त उनके मुंह पर हाथ रख दिया, "कुछ नहीं होगा मां, तुम डरो नहीं। तुम्हीं तो कहती थीं, हर आदमी को वीर, साहसी और देशभक्त बनना चाहिए और अब, जब जर्मन हमारे देश को रौंद रहे हैं, ऐसा कहती हो?" मां खामोश हो गईं।

और अब ज़ोया गुरिल्ला फौज के अधिकारी के सामने थी। अधिकारी ने उसके धैर्य, साहस, निडरता और वफादारी की हर तरह परीक्षा ली। फिर भी कुछ प्रश्न बाकी थे, "तुम लड़की हो। जंगल में अकेली घूम सकोगी?"

"हां।"

"यदि जर्मन तुम्हें पकड़कर शारीरिक यन्त्रणा देंगे तो?"

"तो क्या? आप बिल्कुल निश्चिन्त रहें। मैं सब सह लूंगी, पर देश पर आंच नहीं आने दूंगी।" अधिकारी सन्तुष्ट हो गया। ज़ोया ने अपना नाम बदला, वेष बदला और आवश्यक सामान ले गन्तव्य इलाके की ओर रवाना हो गई।

गुरिल्ला फौज के साथ रहकर ज़ोया को क्या-क्या नहीं सहना पड़ा! कहीं बर्फ ही बर्फ, पीने को पानी तक नहीं। कहीं भयानक जंगल, दलदल और गड्ढे। कभी कई-कई दिन के लिए भोजन ही नहीं। एक बार जल की खोज में जाने पर एक गढ़े के भीतर सीढ़ियां मिलीं। भीतर एक सुरंग थी, जहां जर्मनों का खाने-पीने का सामान रखा था। ज़ोया ने हिम्मत करके वह सामान ले लिया। खाना बनाया और तब कई दिन के भूखे अपने साथियों सहित उसने भरपेट खाना खाया।

पेट्रिटशेवो ग्राम में जर्मन सेना एकत्र थी। मास्को से यह स्थान पास था इसलिए मास्को के लिए खतरा बढ़ गया था। रूसी सरकार इस खतरे के प्रति

सावधान थी। गुरिल्ला सैनिक रात-भर छिप-छिपकर जंगलों में गश्त लगाते और

ठिकानों का पता लगाकर जर्मनों को नष्ट करने की योजनाएं बनाते। दिन में वे प्रायः भूखे ही, पेड़ों की ओट में छिपकर सो जाते थे। ऐसे ही एक रात ज़ोया घूमती हुई शत्रु-शिविर के पास चली गई। उसने टेलीफोन तार काट दिए और शिविर में आग लगा दी। फिर शीघ्र ही बचकर अपने साथियों से आ मिली। सुबह पता चला, आग बुझा ली गई थी। शत्रु-शिविर का विशेष नुकसान नहीं हुआ था। ज़ोया अपनी असफलता पर खीझ उठी। बोली, "मैं फिर जाऊंगी।" कमाण्डर ने समझाया भी कि अभी कुछ दिन नहीं जाना चाहिए, वे लोग सावधान होंगे। पर कैशोर्य-उत्साह। ज़ोया दूसरे दिन ही अपना थैला लेकर फिर चल पड़ी।

जाते-जाते उसने मां को चिट्ठी लिखी। मां को चिट्ठी में मीठा आश्वासन देकर भी उसने अपनी एक साथिन से कहा, "यदि मुझे कुछ हो गया तो मेरी मां को समाचार दे दना।" और फिर अपने कर्तव्य की याद कर तेज़ी से चल पड़ी।

गांव के शत्रु-शिविर में अन्धकार था। न कोई पहरेदार दिखाई दे रहा था, न कोई हलचल। उसे लगा, सब सो रहे हैं। अस्तवल में घुसकर ज़ोया ने घास पर तेल छिड़का औ र दियासलाई जलाई। दुर्भाग्य से सींक टूट गई, जली नहीं। दूसरी जलाने की हल्की आहट से पीछे से एक हाथ आया और ज़ोया पकड़ ली गई। उसने उचककर पकड़ने वाले को धक्का दे अपना रिवाल्वर निकाल लिया, पर चला न पाई। पीछे से और पहरेदार आ गए थे। उन्होंने तुरन्त रिवाल्वर छीन लिया और ज़ोया के हाथ बांध उसे ले गए। एक मकान में ले जाकर जब ज़ोया की तलाशी ली गई तो पता चला कि यह गुरिल्ला सैनिक एक लड़का नहीं, लड़की थी। जर्मन पहरेदार हैरान हो गए।

जर्मन कमाण्डर के सामने ले जाने पर प्रश्नों की बौछार हुई, "तुम कौन हो? कहां से आई हो?"

एक ही उत्तर, "मैं आपको कुछ नहीं बता सकती।"

"कल रात को आग तुमने लगाई थी?"

"हां।"

"क्यों?"

"आप लोगों को नष्ट करने के लिए।"

"तुम्हारे साथी कहां छिपे हैं?"

"मैं आपको कुछ नहीं बताऊंगी।"

"अच्छा, वहां से कब चली थीं?" स्थान की दूरी का अन्दाज़ लगाने के

लिए यह उनका पैंतरा था।

"मैं आपको कुछ नहीं बताऊंगी। हर्गिज़ नहीं बताऊंगी।"

परिणाम जो होना था, वही हुआ। कोड़े मार-मारकर ज़ोया की खाल उधेड़ दी गई। हर दस कोड़े के बाद पूछा जाता और फिर वही उत्तर मिलता, "मैं आपको कुछ नहीं बता सकती। कुछ नहीं बताऊंगी।" और फिर कोड़े बरसने लगते। कपड़े फट गए। खून की धाराएं बह निकलीं। चमड़ी जगह-जगह से उधड़ गई, पर गिड़गिड़ाना तो दूर रहा, ज़ोया न रोई, न चिल्लाई। दांत भींचकर चुप-चाप सारी यन्त्रणा सहती रही। ज़ोर से दांत भींचने पर उसके होठों पर भी घाव हो गए थे। अधमरी हो जाने पर ऐसे ही घसीटकर उसे एक दूसरे घर में ले जाया गया।

पहले जिस किसान के मकान में यह काण्ड घट रहा था, उसकी पत्नी इस अत्याचार को देखकर तड़प उठी थी पर बेचारी कुछ कर न पाई थी। दूसरे किसान के मकान में ले जाने पर भी ज़ोया के हाथ पीछे करके कसकर बांध दिए गए। अर्धनग्न अवस्था। बाल बिखरे हुए। सारे शरीर पर सूजन और घाव। पीड़ा की कराह और कसकर बांधने पर सांस लेने में भी कठिनाई। किसान की पत्नी ने उसे पानी पिलाना चाहा पर पहरेदार ने अनुमति नहीं दी। भूखी-प्यासी और दर्द से तड़पती ज़ोया। ऊपर से बूटों की ठोकरें और गालियों-व्यंग्यों की बौछार। अगले दिन दूसरा पहरेदार ड्यूटी पर आया, तब कहीं ज़ोया को पानी पिलाने दिया गया। यह पहरेदार कुछ दयालु था। उसकी इजाज़त ले किसान-पत्नी ने ज़ोया को खोलकर चारपाई पर लिटाया, कुछ खाने को दिया और मौका देखकर धीरे से पूछा, "क्या तुम्हारे मां-बाप नहीं है ?" ज़ोया किसी भी अनजान व्यक्ति पर भेद नहीं खोलना चाहती थी, इसलिए यहां भी वैसे ही बोली, "मैं कुछ नहीं बता सकती।"

किसान की पत्नी का मन भर आया। उसने ज़ोया को आश्वासन दिया, "मैं भी तुम्हारी एक रूसी बहन हूं। मुझे भी अपने देश से प्यार है। केवल जर्मन सैनिकों के आगे विवश हूं। यह पहरेदार हमारी भाषा नहीं समझता, इसलिए डरो नहीं। मुझे बताओ, यह सब क्या व क्यों हो रहा है ?" ज़ोया ने उसे सारी स्थिति बताई और यह भी जान लिया कि इस क्षेत्र में जर्मनों की गतिविधियां क्या हैं ? उस दिन आग से कितनी क्षति हुई थी ? आदि। पर यह सब अपने साथियों को तभी बताती जबकि किसी तरह ज़िंदा लौट पाती।

अगले दिन फिर वही प्रश्नों की बौछार, तरह-तरह के लालच-दबाव, और यंत्रणाएं। पर ज़ोया ने जर्मन अफसरों को कुछ भी बताने से उसी तरह साफ

इन्कार कर दिया। अब केवल मौत की सज़ा ही शेष रह गई थी।

ज़ोया को फांसी देने के लिए गांव के मध्य में वधस्थल बनाया गया। गांव के स्त्री-पुरुषों को चारों ओर इकट्ठा किया गया ताकि वे यह भयानक दृश्य देखें और जर्मनों के आतंक से कोई और विद्रोह का साहस न करे। गुरिल्ला सैनिकों के हमले के भय से सब तरफ सशस्त्र सैनिक तैनात थे। बड़ा हृदय-विदारक दृश्य था। गांव वाले सहमे हुए थे। चारों ओर जमा सैनिक व्यंग्य कर रहे थे। ज़ोया को एक बक्स पर खड़ा कर ज्यों ही एक फौजी चित्र खींचने लगा, अवसर पा वह चीख उठी, "मेरे रूसी भाइयो, उदास मत होओ। साहसी और निडर बनो। अपने अधिकारों के लिए लड़ो और इन जर्मन दरिंदों को मारकर, जलाकर नष्ट कर दो। मेरे लिए आंसू मत बहाओ। देश के लिए प्राण देना बहादुरी है। तुम भी बहादुर बनो।" तभी वधिक ने हाथ बढ़ा झटका देना चाहा तो एक बार और पूरा ज़ोर लगाकर उसने दोनों हाथों से गले का फंदा ढीला किया और अंतिम नारा लगाया, "साथियो विदा। पर तुम लड़ते रहना, हारना नहीं।" वधिक ने क्रोध से ज़ोर का झटका दिया और ज़ोया की सशक्त आवाज़ एक निर्जीव लाश बनकर शून्य में लटक गई। ज़ोया कास्मोदेमिंस्क्या को फांसी ५ दिसम्बर, १९४१ को दी गई थी। उस समय उसकी आयु केवल अठारह वर्ष ही थी।

इसके बाद की कहानी और भी मार्मिक है। पूरे तीन सप्ताहों तक ज़ोया का शव वहीं गांव के मध्य में उसी तख्ते पर लटका रहा कि ग्रामीण देखें, भयभीत हों और विद्रोह का साहस न करें। गांव वाले बार-बार शव उठाने की इजाज़त मांगते थे, पर नहीं दी गई। तीन हफ्ते बाद जब गांववासियों को शव सौंपा गया, तब भी जलूस में भाग लेने वालों की वाणी मौन थी। चेहरे सहमे हुए थे और लोग चुपचाप आंसू बहाते हुए चल रहे थे। बाद में ज़ोया को 'सोवियत युनियन की हीरोइन' की उपाधि दी गई। और उसकी शहादत की करुण कहानी घर-घर में बच्चे-बच्चे की जुबान पर प्रेरणा बनकर फैल गई।

हज़ारों निराश बच्चों के भविष्य की आशा

मदर नगाटा

६ अगस्त १९४५। हिरोशिमा के लिए एक बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण दिन। ३२ वर्षीया एक युवती दफ्तर में काम कर रही थी कि अचानक इमारत कांपने लगी। सूर्य जैसा तेज़ प्रकाश और सैकड़ों किलोमीटर दूर तक आग की भयावनी लपटें। खिड़कियों के शीशे तड़ाक-तड़ाक। फिर एक साथ कई इमारतें ढेर।

युवती नगाटा अपनी कुर्सी से उछलकर दूर जा गिरी थीं और उनके शरीर में कई जगह खिड़की के कांच चुभ गए थे। घबराकर बाहर दौड़ीं तो देखा, सड़क पर ६ महीने का एक शिशु मां की लाश के पास बेसहारा पड़ा है। अपने घाव और घबराहट को भूल नगाटा ने उसे लपककर उठा लिया और गोद में उठाए-उठाए बेतहाशा भागने लगीं। थोड़ी देर बाद विध्वंस की सारी स्थिति उनकी समझ में आ चुकी थी और वह शिशु गोद में मां की-सी प्यार-भरी सुरक्षा पाकर चुप हो चुका था।

तीन दिन वाद ६ अगस्त को नागासाकी में भी ऐसा ही भयानक नरसंहार

हो गया। ३ लाख ४३ हज़ार की कुल आबादी में से हिरोशिमा में ६६ हज़ार लोग मरे थे व ६९ हज़ार ज़ख्मी हो गए थे। नागासाकी में ३९ हज़ार लोगों के मरने और २५ हज़ार लोगों के ज़ख्मी होने का अनुमान लगाया गया था। चारों ओर मलवा और लाशें और बचे हुए घयाल या घवराए लोग। रोते-चीखते अनाथ बच्चे। क्या करें नगाटा ? किस-किस बच्चे को संभालें ? किस-किस की मां की पूर्ति करें ? वे स्वयं अनाथ बन चुकी थीं। परिवार में से कोई नहीं बचा था। नरसंहार वाली उस ज्वाला की राख ठंडी होते ही अकेली, दुःखी और संतप्त नगाटा ने ऐसे कुछ बच्चों को बटोरा और अपने दुःख को उनके दुःख में डुबा उनकी मां बन गईं।

छोटे कद और मोहक व्यक्तित्व वाली एलिज़ाबेथ नगाटा दक्षिण जापान के वेप्पू नगर की रहने वाली हैं। इन बच्चों के लिए एक बाल-घर उन्होंने वेप्पू में बनाया, एक हिरोशिमा में। बाल-घरों का नाम है : 'गार्डन आफ लाइट' या रोशनी का बगीचा। लगभग सवा सौ नन्हे फूल इन बगीचों में रोपे गए। पले, पोसे और फूले। अब कोई डाक्टर है, कोई इंजीनियर, कोई संगीतज्ञ, तो कोई खिलाड़ी। जवान होकर, शादियां कर चुके हैं। घर बसा चुके हैं और मैडम नगाटा, जो सार्वजनिक रूप से मदर नगाटा के नाम से प्रसिद्ध हो चुकी हैं, आज भी उनकी मां हैं। शुरू के इन सवा सौ बच्चों के अलावा मदर नगाटा के इन बाल-घरों में अब तक लगभग तीन हज़ार और अनाथ बच्चे विभिन्न भागों से आकर शरण पा चुके हैं। और अब बड़े होकर अपना स्वतंत्र जीवन विता रहे हैं। ये सब अपनी जीवनदात्री मां को क्या कभी भूल सकेंगे ! ऐसी मां, जिनके बाल-घर को कोई अनाथालय कहता तो उनकी आंखों में दर्द उभर आता। दिल की चोट आंसू बनकर बह निकलती, "यह अनाथालय नहीं है। यह तो मेरा अपना घर है। ये सारे बच्चे मेरे अपने बच्चे हैं। मैं इनकी मां हूं। इन्हें अनाथ मत कहो। यह अनाथालय नहीं है, नन्हे-मुन्नों का एक घर है। उनका बगीचा है—रोशनी का बगीचा।" और रोशनी का बगीचा कहते ही उनकी आंखों की मुंदी रोशनी फिर लौट आती।

प्रश्न उठता है कि मैडम नगाटा ने इतने सारे इन बच्चों का पालन-पोषण कैसे किया ? इतना धन कहां से जुटाया ? इसकी भी एक मार्मिक कहानी है—उतनी ही मार्मिक, जितनी कि हिरोशिमा के इन बच्चों की कहानी। उन्होंने अखबार में पढ़ा, परमाणु विखंडन की खोज करने वाले महान वैज्ञानिक आटो-हान को हिरोशिमा और नागासाकी के भीषण विध्वंस के समाचार से इतना

धक्का लगा कि शोक और चिंता में डूबकर वह जड़-सा हो गया। उसके एक

साथी जर्मन वैज्ञानिक ने कहा, "भगवान के लिए ओटोहान की देखभाल करो, कहीं वह कुछ कर न बैठे।" नगाटा को लगा, अच्छे उदेश्यों के लिए की गई खोज का यह घातक परिणाम देख अविष्कारक को इतना अधिक मानसिक आघात पहुंचा है तो उन सैनिक अधिकारियों का क्या हाल होगा जिन्होंने यह बम गिराने में सक्रिय भाग लिया है? अवश्य ही उनके भीतर छिपी मानवता ने इस जघन्य कृत्य पर क्रंदन किया होगा, लेकिन नौकरी ने उन्हें विवश कर दिया होगा। यदि संसार से मानवीय संवेदना मिट नहीं गई है तो उन अधिकारियोंके मन पश्चात्ताप से अवश्य भरे होंगे। और बस ऐसा सोचते ही उन्हें अपनी समस्या का; इन अनाथ बच्चों के पालन-पोषण की समस्या का एक समाधान मिल गया।

हिरोशिमा और नागासाकी में घटी दुर्घटनाओं के बाद चार वर्षों से चलने वाला युद्ध चार दिन में ही खत्म हो चुका था। लड़ाई-बंदी की घोषणा होते ही नगाटा ने परमाणु बम गिराने वाले फौजी अफसरों को पत्र लिखे। पत्रों के साथ इन रोते-कलपते और अंग-भंग अनाथ-बच्चों के दर्ज़नों चित्र भेजे और इस पाप-कलंक को मिटाने के लिए इन अनाथ बच्चों के पालन-पोषण के लिए उनसे सहायता की मांग की। ब्रिगेडयर जनरल चार्ल्स डब्ल्यू स्वीनी बम गिराने वाले उन विमानों के अफसर थे। अनाथ बच्चों के चित्र देख पहले वे मौन हो गए, फिर स्वयं को मानवता की अदालत में इस विध्वंस का सबसे बड़ा अपराधी मानकर सहायता को तत्पर हो आए। उन्होंने तुरन्त नगाटा के पत्र का उत्तर भेज पछतावा प्रकट करने के साथ उन्हें उनके पवित्र कार्य के लिए भरपूर सहायता देने का आश्वासन दिया। बाल-घर खोलने के लिए ही नहीं, चलाने के लिए भी जनरल स्वीनी निरन्तर धन इकट्ठा करके भेजते रहे। रिटायर हो जाने के बाद भी उन्होंने मैडम नगाटा के मिशन में पूरा सहयोग दिया। कई बच्चों को अमेरिका में उच्च अध्ययन के लिए भी आमंत्रित किया गया। जनरल स्वीनी की बहन श्रीमती पाल बर्न ने स्वयं नगाटा के एक बच्चे को गोद लिया और उसे बड़ा करके बोस्टन में भेजा। अन्य फौजी अफसरों ने भी उनकी प्रेरणा से कई बच्चों को गोद लिया और पाल-पोसकर, पढ़ाकर अफसर बना दिया। स्वर्गीय मेजर अर्न, जो १९६६ में विएतनाम युद्ध में काम आए, तो नगाटा के सेवाकार्य के इतने बड़े समर्थक थे कि एक बार उन्होंने अपने कार्य से अवकाश लेकर जापान में याकोहामा से वेप्पू तक एक हज़ार मील की पद-यात्रा कर नगाटा के बाल-घरों के लिए धन इकट्ठा किया था। उनकी पत्नी और पुत्री अभी भी इस कार्य के लिए अमेरिका से धन जुटाने में लगी रहती हैं।

इस प्रकार मैडम नगाटा ने अपनी लगन और अथक सेवा के बल पर अकेले वह काम कर दिखाया जो बड़ी-बड़ी संस्थाएं नहीं कर सकती थीं। वे स्वयं में एक संस्था हैं। इस मानवीय सेवा कार्य के माध्यम से अमेरिका और जापान के बीच सद्भावना की एक कड़ी के रूप में भी वे सामने आ गईं। आज दोनों देशों में फिर मित्रता है। अंतर्राष्ट्रीय मैत्री, मानवीय सद्भावना और विश्व-शांति की मंज़िल की ओर बढ़ते कदमों के नीचे की आधार सड़क के निर्माण में मैडम नगाटा का कार्य कितना ही अल्प हो, महत्त्व में वह बहुत बड़ा है।

मैडम नगाटा इस समय ६२ वर्ष की आयु के लगभग पहुंच चुकी हैं पर सैकड़ों-हज़ारों बच्चों को पालते-पालते उनके भीतर की मां थकी नहीं है। वे आज भी 'गार्डन आफ लाइट' के वेप्पू और हिरोशिमा स्थित दोनों बाल-घरों में घूम-घूमकर बच्चों की देखभाल करती हैं और उनमें अपनी ममता, प्यार, अपनत्व भरे मीठे शब्दों से सुनहरे भविष्य की आशा जगाती हैं। एक-एक बच्चे से उन्हें अपने बच्चे जैसा प्यार है। हर एक की फोटो उन्होंने अपने एक बड़े एलबम में लगा रखी है। जहां भी जाती हैं, इस एलबम को अपने साथ रखती हैं और आंखों में आंसू भर-भर उन बच्चों की दर्दभरी कहानियां सुनाती हैं। समाज-सेवा की इस सीधी-सच्ची और जीती-जागती मिसाल से आज के इस राजनीतिप्रधान युग में भी मानवता के भविष्य के प्रति आशा बंधती है।

महान् कवयित्री भारत-कोकिला

सरोजिनी नायडू

१३ फरवरी का दिन भारत में 'महिला-दिवस' के रूप में मनाया जाने लगा है। 'भारतीय विश्व-विद्यालय महिला संघ' और 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' की कार्यकर्त्रियों के सम्मुख जब यह प्रस्ताव आया कि जैसे भारत में बाल-दिवस अन्तर्राष्ट्रीय बाल-दिवस की तिथि पर ही न रखकर देश के लोकप्रिय नेता और बच्चों के प्यारे चाचा श्री नेहरू के जन्मदिवस के साथ मनाया जाता है, इसी प्रकार महिला-दिवस भी अन्तर्राष्ट्रीय तिथि ८ मार्च से अलग करके किसी सर्वप्रिय महिलानेत्री के जीवन से मिलाया जाए। श्रीमती लक्ष्मी मेनन दोनों संस्थाओं की प्रमुख सक्रिय सदस्या थीं। उन्होंने प्रस्ताव रखा : बीसवीं शताब्दी की महिलाओं में श्रीमती सरोजिनी नायडू से बढ़कर लोकप्रिय और प्रेरक व्यक्तित्व दूसरा कौन-सा होगा। बात सभी को जंच गई। प्रस्ताव पारित हुए और दोनों प्रमुख महिला संस्थाओं ने श्रीमती नायडू की जन्मतिथि १३ फरवरी को 'महिला-

दिवस' के रूप में स्वीकार कर लिया।

स्थान-स्थान पर महिला-सभाओं में यद्यपि अब १३ फरवरी को महिला-दिवस के आयोजन किए जाते हैं परन्तु राष्ट्रीय स्तर पर यह भावना अभी व्यापक रूप नहीं ले पाई है। इसका कारण यह है कि भारतीय नेत्रियों द्वारा महिला-दिवस का यह निर्णय घोषित किए अभी कुछ ही वर्ष हुए हैं। समय बीतने के साथ 'बाल-दिवस' की तरह 'महिला-दिवस' की भावना भी व्यापक होती जाएगी और तब 'भारत-कोकिला' की याद समारोहों का कोकिला-स्वर बनकर पूरे देश में गूंजने लगेगी, गूंजती रहेगी। याद तो अमिट है, केवल उसमें गुंजार का स्वर भरना ही शेष है।

श्रीमती सरोजिनी नायडू एक जन्मजात कवयित्री, देशभक्त, राजनीतिज्ञ और कुशल वक्ता थीं। वे भारत की 'प्रथम महिला राज्यपाल' और 'प्रथम भारतीय महिला कांग्रेस-अध्यक्ष' थीं। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी और व्यक्तित्व विलक्षण, जिसमें वीर नारी का ओज, गृहिणी का आदर्श, कवयित्री की कोमलता और सरसता, नेत्री की संगठन-क्षमता, वक्ता की प्रभावशीलता, सैनिक की तत्परता और प्रशासक की कुशलता, एक साथ न जाने कितने गुणों का समावेश था। इतना कर्मठ और संघर्षमय, रूखा राजनीतिक जीवन, पर उनके भीतर की हरीतिमा कभी नहीं सूखी। भाषण की वाणी: कविता की निर्झरिणी-सी। कठोर श्रम के क्षण : सरसता में डूबे-से। चिन्ताओं का बोझ : हास्य की हल्की-फुल्की तराजू पर। बड़ों-बड़ों से परिहास करने से न चूकतीं। श्री नेहरू, पटेल, बापू सभी उनके परिहास के शिकार बनते। नेहरू जी को 'सुन्दर राजकुमार', बापू को 'आदमियों में मिकी-माउस', सरदार पटेल को 'बारदोली के बैल' और श्री कृपालानी को 'नर-कंकाल' कहा करतीं।

श्री नेहरू से उनके परिहास का एक प्रसंग काफी प्रसिद्ध है। श्री नेहरू का सिर गंजा था पर टोपी पहनने पर वे अपनी उम्र से कम और अधिक खूबसूरत लगते थे। एक चाय-पार्टी में जब नेहरू जी नवयुवतियों के एक दल से घिरे हुए थे और लड़कियां बड़ी दिलचस्पी से उनकी बातें सुन रही थीं, श्रीमती नायडू अकस्मात् बोल पड़ीं, "जवाहर, ज़रा अपनी टोपी उतारो तो। इन लड़कियों का भ्रम निवारण करो कि तुम जवान हो।" कई अवसरों पर किए गए उनके ऐसे मज़ाक प्रसिद्ध हैं। राजनीति शुष्क वातावरण में अपनी सरस काव्यमय सूक्तियों और परिहासों से इसी तरह माधुर्य बिखेरती चलती थीं वे।

सरोजिनी नायडू का जन्म १३ फरवरी, १८७९ को हैदराबाद में हुआ। पिता डाक्टर अघोरनाथ चट्टोपाध्याय एक वैज्ञानिक थे और कई विषयों के विद्वान।

माता वरदसुन्दरी धार्मिक भावना, सात्त्विक वृत्ति और साहित्यिक रुचि की

महिला थीं। सरोजिनी में माता-पिता दोनों के ही गुणों का समावेश था। बालिका सरोजिनी बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि थी और अत्यन्त स्वाभिमानिनी। एक बार अंग्रेज़ी में कुछ कमज़ोरी दिखाने पर पिता से डांट पड़ी तो उसपर अधिकार पाने के लिए हाथ धोकर उसके पीछे पड़ गई। कुछ समय बाद जो भी अंग्रेज़ी में उसकी बात-चीत सुनता, चकित रह जाता।

पिता चाहते थे, सरोजिनी गणितज्ञ या वैज्ञानिक बने, पर उसकी काव्य-प्रतिभा अधिक शक्तिशाली रूप में प्रस्फुटित होकर सामने आई। सरोजिनी के कवि जीवन की शुरुआत भी एक दिलचस्प घटना थी: ग्यारह वर्ष की आयु में एक दिन वह बीजगणित का कोई सवाल हल कर रही थी। अनेक प्रयत्नों के बावजूद जब वह प्रश्न उसकी समझ में नहीं आया तो उसने बीजगणित की पुस्तक एक तरफ रख दी और बैठे-बैठे कापी पर कविता लिखना शुरू कर दिया। इस तरह बीजगणित की कापी पर उसकी पहली कविता अपने सहज आकस्मिक रूप में प्रकट हुई। इससे प्रोत्साहन पा सरोजिनी ने 'द लेडी आफ द लेक' नामक १३०० पंक्तियों की एक लंबी कविता लिख डाली।

उस ज़माने में लड़कियों के लिए पग-पग पर बाधाएं थीं। भारतीय समाज बहुत-सी संकीर्णताओं में घिरा था। धार्मिक आडम्बरों और अंध-विश्वासों की भरमार थी। पर डा० अघोरचंद चट्टोपाध्याय ने अपनी बेटी को किन्हीं सीमाओं में बांधना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अपने प्रत्येक बालक को अभिव्यक्ति और विकास की पूरी स्वतंत्रता दे रखी थी। इसीलिए जब बालिका सरोजिनी ने गणित और विज्ञान के बजाय कविता में अपना रुझान प्रदर्शित किया तो उन्होंने कोई बाधा नहीं दी। उल्टे एक अलग कमरा देकर उसे अपने जन्मजात गुणों के विकास की ओर प्रोत्साहित करने के लिए सुविधाएं प्रदान करने लगे।

अंग्रेज़ी और फ्रेंच पढ़ाने के लिए घर पर ही शिक्षिकाएं आती थीं। बारह साल की छोटी आयु में सरोजिनी ने मद्रास यूनिवर्सिटी से मैट्रिक पास कर लिया। इस बीच उसने पर्याप्त साहित्यिक ज्ञान भी अर्जित कर लिया था। शैली, ब्राउनिंग, टेनिसन की कविताएं पढ़ते-पढ़ते इतनी भाव-विभोर हो उठती कि उसका नन्हा दिमाग स्वयं कवयित्री बनने के सपने देखने लगता। एक महान कवयित्री की कल्पना से उसके सारे शरीर में फुरहरी-सी दौड़ जाती और वह सोचती, 'मैं भी ऐसी ही दिल को छूने वाली कविताएं लिखूंगी। अवश्य लिखूंगी और कवयित्री बनकर रहूंगी। इसीका परिणाम था: तेरह वर्ष की आयु में १३०० पंक्तियों की लंबी कविता, जिसके रस-सौन्दर्य ने सभी को चकित कर दिया।

इतने श्रम के बीच किशोरी सरोजिनी का स्वस्थ्य खराब रहने लगा। डाक्टरों ने उसे आराम करने की सलाह दी। पर सरोजिनी की चैन कहां! डाक्टर को यह विश्वास दिलाने के लिए कि वह स्वस्थ है, उसने दो हज़ार पंक्तियों का एक पूरा नाटक लिख डाला। इसके शीघ्र बाद एक फारसी नाटक 'मेहर मुनीर' लिखा गया। पिता ने बेटी को प्रोत्साहित करने के लिए नाटक की कुछ प्रतियां छपवाकर मित्रों में वितरित कीं और एक प्रति हैदराबाद के निज़ाम को भी भेंट की। निज़ाम एक नन्ही लड़की के इतने सुन्दर नाटक से बेहद प्रभावित हुए और खुश होकर उन्होंने सरोजिनी जी को विदेश में साहित्य-अध्ययन के लिए छात्रवृत्ति दे दी। यूं, सरोजिनी जी को विदेश जाकर अध्ययन करने का अवसर मिल गया।

कैम्ब्रिज में उन्हें प्रवेश नहीं मिल सका, क्योंकि उनकी आयु १८ वर्ष से कम थी। अतः वे लन्दन के किंग्स कालेज में दाखिल हो गईं। सौभाग्य से उनकी संरक्षिका का घर साहित्यकारों का अड्डा था। यहीं सरोजिनी की मुलाकात एडमण्ड गोसे, विलियम आर्थर जैसे साहित्यकारों से हुई जो बहुत उपयोगी सिद्ध हुई। एक बार उन्होंने अपनी कुछ रचनाएं प्रसिद्ध आलोचक गोसे को दिखाईं, जिनकी प्रतिक्रिया ने उनके काव्य-जीवन की धारा ही बदल दी। बिना किसी हिचक के गोसे ने सरोजिनी से कहा, "मेरी राय में इन सारी कविताओं को रद्दी की टोकरी में डाल देना चाहिए।" सरोजिनी जी ने रुआंसे होकर उनकी तरफ देखा तो गोसे ने बड़े प्यार से समझाया, "मेरा मतलब यह नहीं कि रचनाएं अच्छी नहीं हैं। मैं केवल तुम जैसी प्रतिभावान हिन्दुस्तानी लड़की से यह अपेक्षा करता हूं कि पश्चिमी भाषा और काव्य में दक्षता प्राप्त करके भी तुम यूरोपीय वातावरण और सभ्यता को अपने काव्य में न उंडेलो। हम यूरोपीय समीक्षक तुम्हारे काव्य में भारत की आत्मा के ही दर्शन करना चाहेंगे।" बात उन्हें लग गई। उन्होंने गोसे को अपना साहित्यिक गुरु मान लिया और अपने काव्य को वह मोड़ देना शुरू किया जिसमें भारत ही नहीं, पूरे पूर्व की आत्मा झलक उठे।

अपने इंग्लैंड के इसी प्रवास में उनका एक दक्षिण भारतीय डाक्टर गोविन्द राजुलु नायडू से प्रेम हो गया। तीन वर्ष तक लन्दन में मनोयोग पूर्ण शिक्षा ग्रहण कर १८९८ में जब वे भारत लौटीं, तब भी उनकी आयु केवल १९ वर्ष थी। इसके तीन महीने पश्चात् उन्होंने डाक्टर नायडू से विवाह कर लिया। इस अन्तर-जातीय विवाह को लेकर एक बवंडर उठ खड़ा हुआ। पर श्रीमती नायडू विचारों से क्रांतिकारी थीं और पिता का रूढ़िभंजक वरदहस्त उनके सिर पर था। धीरे-धीरे विरोध घटता गया और श्रीमती नायडू के इस साहसिक कदम की सर्वत्र प्रशंसा होने लगी। उनका वैवाहिक जीवन भी बहुत सफल रहा।

विवाह के बाद भी काव्य-साधना जारी रही। वे सौन्दर्य की कवयित्री थीं।

सौंदर्यप्रियता ने ही उन्हें कवि बनाया था। उनके गीतों में कहीं पर्वतीय निर्झर का संगीत बहता है तो कहीं बलखाती नदी की निर्मल लहरों का। ऊंची उड़ान, भावुकता और माधुर्य उनकी कविता के सहज गुण हैं। काव्य के माध्यम से उन्होंने सत्य, प्रेम और शांति के अपने जीवन-आदर्शों को निखारा। नारीत्व के आदर्श की महिमा गाई। प्रेम और सौंदर्य के मार्ग से सत्य की खोज की और जागृति का मंत्र फूंक देशवासियों की तंद्रा भंग की। अंग्रेज़ी छंद-विन्यास पर उनका पूरा अधिकार था। गति, गेयता और सौंदर्य में उनकी कविताओं को कई अंग्रेज़ी कवियों के समकक्ष माना गया। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक बार उन्हें लिखा, "आपकी रचनाओं की गेयता और सौजन्य देखकर मुझमें आपके प्रति ईर्ष्या जागती है।" श्री नेहरू की उनके बारे में राय थी, "उन्होंने हमारे राष्ट्रीय संघर्ष में कला और कविता का समावेश कर उसे नैतिक महानता प्रदान की है।" पर कुछ समीक्षकों के अनुसार, सरोजिनी नायडू के काव्य में राष्ट्रीय मोड़ से उनका साहित्य-जगत् कमज़ोर पड़ गया था। फिर भी उनके गीतों के स्वर ने जिस प्रकार एक भारी संख्या में देशवासियों को झिझोड़ा, उससे ही उन्हें 'भारत-कोकिला' की उपाधि से विभूषित किया गया। सरोजिनी नायडू की चार प्रसिद्ध कविता-पुस्तकों के नाम हैं: 'स्वर्ण-देहली', 'जीवन और मृत्यु की कविताएं', 'काल पक्षी', और 'टूटा हुआ डैना'।

यद्यपि सरोजिनी नायडू एक जन्मजात कवयित्री थीं पर देश की पुकार पर उन्होंने कर्तव्य और कविता के बीच एक समझौता कर लिया था। कवि-जीवन की शुरुआत की तरह उनके राष्ट्रीय जीवन की शुरुआत भी एक आकस्मिक घटना से हुई। एक बार श्री गोपालकृष्ण गोखले ने उन्हें इन शब्दों से प्रेरित किया, "यहां मेरे साथ खड़ी हो जाओ और इन तारों और पर्वतमालाओं को साक्षी बनाकर अपने स्वप्न, गीत, विचार और जीवन-आदर्श सभी कुछ भारतमाता को समर्पित कर दो। इस पहाड़ की चोटी से अडिग रहने की प्रेरणा ग्रहण करो और भारत के हज़ारों गांवों में फैले सुप्त मानस को जगाओ, उनमें निराशा के अंधकार को दूरकर आशा का सन्देश भर दो। तुम्हारी कविता सार्थक हो जाएगी।" और तब सौन्दर्य की कवयित्री राष्ट्र-जागरण का मन्त्र लेकर स्वतन्त्रता-संग्राम में कूद पड़ी थी।

फिर गांधी जी से भेंट के बाद तो वे पूरी तरह राजनीति में भाग लेने लगीं। उनके भाषणों की काव्यसिक्त वाणी जनता को मन्त्रमुग्ध कर देती थी। साधारण जन और विद्वान दोनों वर्ग ही उससे प्रभावित थे। कांग्रेस में सम्मिलित हो उन्होंने

देश-भर का दौरा किया। देशभक्ति और नवचेतना का सन्देश प्रसारित करती वे जन-जन को जगाने लगीं और जनता से ही शक्ति ग्रहण करने लगीं। १६१७ में उन्होंने दो महत्त्वपूर्ण कार्य किए : सम्पूर्ण देश का भ्रमण और महिला-मताधिकार आंदोलन का सूत्रपात। १८ दिसम्बर, १६१७ को श्रीमती मार्गरेट काज़िन्स की प्रेरणा से महिला-मताधिकार की मांग लेकर १८ महिलाओं का जो शिष्टमण्डल लार्ड चेम्सफोर्ड और मिस्टर मांटेग्यू से मिला था, उसका नेतृत्व श्रीमती नायडू ने ही किया था। प्रतिनिधिमण्डल ने मांग की कि स्त्रियों को भी पुरुषों के समान मत देने का अधिकार प्रदान किया जाए। यह मांग इसके पांच वर्ष बाद ही फली-भूत हो गई।

१६१७ से १६४७ तक के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के इतिहास में ऐसी कोई भी महत्त्वपूर्ण घटना न थी, जिसमें श्रीमती नायडू ने आगे बढ़कर भाग न लिया हो। १६१७ में श्रीमती एनी बेसेंट की अध्यक्षता में हुए कांग्रेस अधिवेशन में दिया गया उनका भाषण देश को सदा याद रहेगा। उन्होंने कहा, "मैं एक महिला हूं। इस नाते आपसे कहना चाहती हूं कि जब कभी भी आप संकट में होंगे या अंधेरे में रास्ता टटोलते होंगे, जब कभी भी आप अपने लक्ष्य की महानता बनाए रखने के लिए सच्चे नेताओं की ज़रूरत महसूस करेंगे और जब कभी अपने भीतर आत्म-विश्वास की कमी पाएंगे, हम भारतीय स्त्रियां आपकी शक्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए और आपको अपने महान उद्देश्य से विचलित न होने देने के लिए आपके साथ होंगी।" इसी प्रकार अपने स्वतन्त्रता-संग्राम में कूदने के बारे में वे कहती थीं, "अक्सर लोग पूछते हैं, मैं काव्य के स्वप्नलोक को छोड़ राजनीति के शुष्क धरा-तल पर क्यों उतरी ? मेरे पास यही उत्तर है कि कवि समाज से अलग नहीं है। उसका भाग्य भी राष्ट्र की जनता—उसकी कठिनाइयों और परेशानियों से जुड़ा है। वह इनसे मुंह नहीं मोड़ सकता।" आज भी उनके ये शब्द कितने अर्थवान और प्रेरक हैं !

१६१८ में श्रीमती नायडू यूरोप गईं और जिनेवा में स्त्री-मताधिकार परि-षद् के सम्मुख हृदयग्राही भाषण देकर भारतीय महिलाओं का पक्ष रखा। १६१६ में उन्होंने बम्बई में निषिद्ध पैम्फ्लेट बांटकर असहयोग आंदोलन में योग दिया। नृशंस जलियांवाला-कांड से तो वे इतनी क्षुब्ध हो उठी थीं कि अपने भाषण में बड़ी निर्भीकता से उसकी निन्दा करने लगीं। उसी वर्ष जुलाई में उन्हें 'होम रूल लीग' प्रतिनिधि-मण्डल का सदस्य बनाकर लन्दन भेजा गया। लन्दन के किंग्सवे हाल में जलियांवाला-कांड पर उन्होंने जो निर्भीक तथ्यपूर्ण भाषण दिया उससे लन्दनवासी इस महिला की शक्ति और अद्भुत वक्तृत्व कला से सिहर

उठ। जब-जब भी उन्हें विदेश जाने का मौका मिलता, मौके का लाभ उठातीं और

भारत में अंग्रेज़ शासकों की निरंकुशता की कहानी सुनाने से न चूकतीं।

१९२५ के कानपुर-अधिवेशन के लिए वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्षा चुनी गईं। यद्यपि इसके पूर्व श्रीमती एनी वेसेंट इस पद को सुशोभित कर चुकी थीं, पर एक भारतीय के नाते वह इस पद पर प्रथम महिला थीं। कानपुर अधिवेशन में दिया उनका अध्यक्षीय भाषण सभी पूर्व भाषणों से लम्बा और सुनियोजित था। उसका एक प्रेरक सूत्र है : 'स्वतन्त्रता-संग्राम में निराशा एक बड़ा अपराध है।' १९२६ में वे इस पद पर दूसरी बार निर्वाचित हुईं। १९२८ में अमरीका का दौरा कर गांधीजी के सन्देश को वहां प्रचारित किया। फिर लौटकर नमक-सत्याग्रह में सम्मिलित हुईं। गांधीजी की गिरफ्तारी के बाद २३ मई, १९३० को उनका अनुगमन करते हुए बन्दी बना ली गईं। १९३१ में गांधी-इरविन समझौते के फलस्वरूप द्वितीय गोलमेज़-कांफ्रेंस में भाग लेने गांधीजी और मालवीयजी के साथ लन्दन गईं। वहां उन्होंने पूरी ताकत से गांधीजी का पक्ष प्रबल किया। १९४२ में 'भारत छोड़ो आंदोलन' में कूद पड़ीं और फिर जेल गईं। जब १९४३ में बापू ने आगाखां महल में उपवास किया तो श्रीमती नायडू ने उनकी सेवा में दिन-रात एक कर दिया। पर बीमार पड़ जाने पर उन्हें गांधीजी से पहले जेल से रिहा कर दिया गया था।

फिर आया १५ अगस्त, १९४७ का ऐतिहासिक दिन। श्रीमती नायडू के सपनों का सूर्योदय। भारत की स्वतन्त्रता पर उनका कविहृदय नाच उठा। दिल्ली रेडियो पर राष्ट्र के नाम सन्देश में उन्होंने स्वदेशवासियों का अभिवादन करते हुए अन्य पराधीन देशों की मुक्ति की कामना की। इसके बाद उन्हें स्वतन्त्र भारत में 'पहली महिला राज्यपाल' के पद का दायित्व संभालना पड़ा। कवयित्री के बाद सेनानी और अब शासक। अपने शासनकाल में भी, अनुभवहीनता के बावजूद, उन्होंने जिस बुद्धिमानी और प्रशासनिक योग्यता का परिचय दिया, वह भारतीय नारी के लिए गौरव की बात है।

भारतीय स्त्रियों के लिए उन्होंने क्या नहीं किया ? शिक्षा, जागृति, मताधिकार, स्वतन्त्रता, समानाधिकार—सभी कुछ। पर्दा-प्रथा, अशिक्षा, दहेज, धार्मिक बन्धन आदि सभी बाधाओं-कुरीतियों के खिलाफ वे जीवन-पर्यन्त लड़ती रहीं। डा० एनी वेसेंट द्वारा स्थापित 'होमरूल लीग' और श्रीमती मार्गरेट कज़िन्स द्वारा स्थापित 'इण्डियन वीमेंस एसोसिएशन' तथा 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। सभी महिला-गतिविधियों में उन्हें प्रमुख स्थान दिया जाता था और महत्त्वपूर्ण विषयों पर उनसे सलाह ली

जाती थी। अ० भा० महिला सम्मेलन की सन् १९३० में अध्यक्ष भी रहीं। उन्हें भारतीय नारी होने का गर्व था। वे कहा करती थीं, "मैं उस जाति की वंशज हूं जिसमें सीता की पवित्रता, सावित्री के साहस, द्रौपदी की निष्ठा और दमयन्ती के आत्मविश्वास का आदर्श है।" एक आदर्श भारतीय नारी के सभी गुण तो उनमें समाहित थे : हंसमुख, मिलनसार प्रकृति, सादा कर्मठ जीवन, उच्च विचार, सेवा और त्याग की भावना, ममतामयी मिठास, वीरता और कोमलता का समन्वय।

बहुमुखी व्यक्तित्व की धनी यह लोकप्रिय नारी २ मार्च, १९४९ को इस संसार से विदा हो गई, पर अपने पीछे सुकीर्ति का ऐसा दीप जला गई जो सदियों तक देशवासियों को प्रकाश देता रहेगा। श्रीमती सरोजिनी नायडू पर भारतीय स्त्रियों को ही गर्व नहीं, विश्व के समूचे महिला-समाज में उनका स्थान सुरक्षित है।
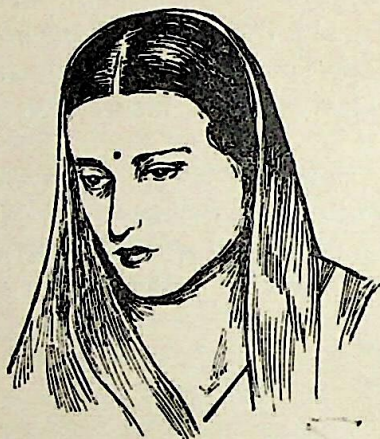
आधुनिक भारतीय चित्रकला की अग्रदूत

अमृता शेरगिल

"मैं नहीं समझती कि मैं यूरोप में सफल हो सकूंगी। मैं यहां सहज नहीं हूं। मेरा आत्मविश्वास साथ नहीं दे रहा। यूरोप पिकासो, मतीस, बाश, या ऐसे दूसरे चित्रकारों के लिए ठीक है। मुझे ऐसा लगता है कि मेरा वास्तविक कार्य-क्षेत्र भारत ही है—एकाएक यह अवर्ण्य प्रेरणा मुझमें जागी।···मेरे प्रोफेसर भी मेरे रंगों के वैभव को देखकर प्राय: कहा करते थे कि पश्चिम की चित्रशालाएं मेरी मौलिक प्रतिभा के विकास के लिए अधिक सहायक नहीं होंगी। पूर्व के रंगों और प्रकाश में ही मेरे कलाकार को सही या यथार्थ वातावरण मिल पाएगा।" और अमृता शेरगिल का मन भारत के लिए ललक उठा।

विश्वास करना कठिन लगता है कि अमृता में यह भारतीय संस्कार कैसे जागा? एक लड़की जो यूरोप में जन्मी, जिसकी प्रारम्भिक शिक्षा और चित्रकला की शिक्षा वहीं हुई, पश्चिम के कला-संस्कृति के गढ़ पेरिस में जिसके चित्रकार

का खुलकर सम्मान हुआ और जिसकी प्रेरणा-प्रदाता मां भारतीय नहीं, हंगेरियन

थी, उसकी चित्रकला में पूर्व के रंगों का वैभव कैसे आया ? इसके अतिरिक्त जिसका शैशव ही नहीं, पूरा जीवन सुविधा, वैभव और समृद्धि के, लाड़, प्यार और सुहाने सपनों के झूले में झूला, उसे भारतीय जन-जीवन की बदसूरती में खूबसूरती कैसे नज़र आई ? कहां पेरिस का विलासमय वातावरण और कहां सामान्य भारतीय जन की मूक वेदना का करुण क्रन्दन ! पर भारतीय पिता की पुत्री अमृता के अन्तरंग संस्कार में कहीं गहरे यह सत्र शायद दबा पड़ा था जो समय पाते ही बाहर आ गया।

वे लिखती हैं, "चित्रकला की शिक्षा के लिए यूरोप जाने से पहले मैं कच्ची उम्र की लड़की थी। इतनी अन्तर्मुखी कि अपने बाह्य संसार को देख ही न सकी। उन दिनों मैं कल्पना में भारत की और ही तसवीरें बनाया करती थी। वास्त-विकता से अपरिचित जो थी। भारत की जो तस्वीर मुझे रंगीन चित्रों और अपने मिलने-जुलने वालों से मिली थी, वह सच्ची तसवीर नहीं थी। मेरी धारणा गलत निकली। भारत की असली तसवीर वह है जा काले-कलूटे, नंग-धड़ंग और सर्दी में विना कपड़ों के ठिठुरते बच्चों में देखने को मिलती है। उन पुरुषों और स्त्रियों में मिलती है जिनके शरीर हड्डियों के ढांचे मात्र हैं और जिनकी आंखों में विषाद की गहरी छाया है। उनके रीति-रिवाज़ों और विश्वासों में मिलती है।···जैसे ही मैंने भारत की धरती पर दोबारा कदम रखा, मेरी कला का विषय बदल गया, मूल भावना बदल गई और अभिव्यक्ति की शैली बदल गई। यह नया मोड़ भारतीयता का ही था। मुझे लगा, गरीब भारतीयों के मौन समर्पण और असीम धैर्य को ही मुझे अभिव्यक्ति देनी है। उनकी बदसूरती के सौन्दर्य को ही कैनवास पर उतारना है। मुझे गोगां के चित्रों में भरे अवसाद और भारतीयों की आंखों में भरे विषाद में एक अजीब समानता मिली और मैंने उसे हूबहू अपने चित्रों में उतारने का निश्चय कर लिया।" सचमुच ही अमृता के चित्रों में भारतीय जन-जीवन का यह दर्द अपनी पूरी सहजता और मार्मिकता के साथ उभरा है और उनकी शैली में पाश्चात्य और पूर्वीय कला का वड़ा सफल समन्वय हुआ है। यहीं पर वे भारतीय चित्रकला को नया मोड़ देने वाली अथवा आधुनिक चित्रकला की अग्रदूत के रूप में मानी जाती हैं।

ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् भारत में जो कला-विमुखता पनपी, उसमें पुनर्जागृति का श्रेय यद्यपि बंगाल के अवनीन्द्रनाथ टैगोर, नंदलाल बोस, जामिनीराय प्रभृति कलाविदों को ही प्राप्त है किन्तु उनकी कला में बाहरी चमक-दमक और आकर्षक रंगों का ही बाहुल्य था। मौलिक कला-तत्त्वों, नये प्रयोगों

और गति के अभाव में उसमें एक ठहराव आ चुका था। अमृता को बंगला स्कूल की यह भावुकतापूर्ण रंगयोजना और रूढ़िवादिता पसंद नहीं आई। उन्होंने इसपर खुलकर अपनी राय व्यक्त की, "इसीसे भारतीय कला में एक ठहराव, एक रूढ़िवादिता आ गई है। कोई जीवन्त आंदोलन ही अब इसे गति प्रदान कर सकता है।" और अमृता को इस मोड़, इस गति के लिए संघर्ष कम नहीं करना पड़ा। इसीलिए उन्होंने कला-समीक्षाएं लिखीं। चर्चाओं में भाग लिया। कई रूपों में अपनी खीझ भी व्यक्त की। फिर भी उन्हें मलाल रहा कि उनकी कला को ठीक से परखा नहीं जा रहा। वे स्वयं को समुचित प्रोत्साहन से वंचित समझती रहीं।

अपनी कला की विशिष्टता के प्रति अमृता पूर्णतया सजग थीं। अपने हर चित्र के बारे में उनके विचार स्पष्ट थे। वे जानती थीं कि अच्छी कला को पसन्द कर पाना बहुत थोड़े लोगों के वस की बात है, फिर भी दर्शक के अधकचरेपन को दूर करने के लिए अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने तथा लोगों की राय को स्वीकारने या अस्वीकारने के कलाकार के अधिकार की वकालत उन्होंने बड़े पैने कटाक्षों से की। समीक्षकों और निर्णायकों से निवटने के लिए उन्होंने अक्सर व्यंग्य और कटाक्ष की भाषा का प्रयोग किया। १९३५ में जब 'शिमला आर्ट्स सोसाइटी' द्वारा आयोजित प्रदर्शनी के लिए उनके दस चित्रों में से वे पांच अस्वीकार कर दिए गए, जिन्हें वे स्वयं प्रदर्शन के लिए अपेक्षाकृत श्रेष्ठ समझती थीं, तो उन्होंने सोसाइटी द्वारा प्रदत्त महाराजा फरीदकोट पुरस्कार लेने से ही इन्कार कर दिया। उन अस्वीकृत चित्रों में से एक चित्र को पेरिस के 'ग्राण्ड सैलोन' के लिए स्वीकार कर लिया गया था और यूरोप के सभी बड़े कला-समीक्षकों ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी, इसलिए निर्णायकों की कला-समझ पर अमृता को बड़ा क्रोध आया था। पुरस्कार से इन्कार करते हुए उन्होंने शिमला आर्ट सोसाइटी को जो लम्बा पत्र लिखा, उसकी भाषा से लगता है कि उनके कलाकार को ठीक से पहचान न पाने वालों पर वह किस कदर व्यंग्य की चोट करती थीं।

चित्रकला के साथ वे इस कला में भी माहिर थीं तो इसका कारण केवल उनकी कला-सजगता ही थी। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करने पर भी वे भारत में अपनी इस उपेक्षा और अपनी कला के गलत मूल्यांकन को सह नहीं पाती थीं, इसलिए भीतर से कहीं टूटती जा रही थीं। यही टूटन कभी-कभी उग्रता का रूप धारण कर लेती थी, जो सच्चे क्रांतिकारी कलाकार का एक सहज गुण है। पर अपनी कला के प्रति इतनी सजग होने पर भी कदाचित् उन्हें यह भान न था कि आनेवाली पीढ़ी किस प्रकार उनके पदचिह्नों पर चल पड़ेगी, कितने लोग उनसे

प्रेरणा पाएंगे और किस प्रकार चित्रकला के इतिहास में उनका नाम अमर हो

जाएगा। २९ वर्ष की अल्पायु में तो वे टूटकर बिखर भी गईं। इतनी छोटी अवधि में ही उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित कर ली थी। यदि कुछ वर्ष और जीवित रहतीं तो भारतीय कलाक्षेत्र में सम्भवतः असाधारण क्रांति ला देतीं।

अमृता की कुछ अमर कृतियां हैं: 'भारतमाता', 'तीन बहनें', 'नवयुवतियां', 'नन्हा अछूत', 'वधू-शृंगार', 'ब्रह्मचारी', 'पनिहारिन', 'प्रोफेशनल माडेल' आदि। इनमें से 'तीन बहनें' पर बम्बई आर्ट सोसाइटी से स्वर्णपदक मिला। 'नवयुवतियां' के ग्राण्ड सैलोन (पेरिस) में प्रदर्शन पर उन्हें 'ग्राण्ड सैलोन' का एसोसिएट सदस्य बना लिया गया। ग्राण्ड सैलोन में 'नवयुवतियां' के प्रदर्शन पर जूरी के एक सदस्य की राय में, "इतनी छोटी उम्र और इतनी परिपक्व कला! ऐसा चित्र बनाने में तो तीस वर्ष का अनुभव चाहिए। लगता है, इस लड़की ने यह कला अपने पालने में ही सीख ली थी।" इसी प्रकार 'एकोल डैस ब्यूक्स आर्ट्स' के एक विश्वविख्यात प्रोफेसर ल्यूसिएं सिमोन भी अमृता की कला से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने एक दिन कह ही दिया, "एक दिन आएगा, जब मैं गर्व से कह सकूंगा कि यह महान कलाकार लड़की कभी मेरी शिष्या रह चुकी है।" श्री ल्यूसिएं सिमोन की अमृता के बारे में यह राय चित्रकला के क्षेत्र में बहुत महत्त्व रखती थी। इससे अमृता को बल मिला और अमृता के चित्र ग्राण्ड सैलोन तथा सैलोन डैस ट्यूलरीज़ में निरन्तर प्रदर्शित होने लगे। इसके बाद उन्होंने यूरोप के सभी महान कलाकारों की कृतियों का सूक्ष्म अध्ययन किया। पेरिस में अपना अलग स्टूडियो खोलकर अपना एक स्थान; एक नया व्यक्तित्व स्थापित करने की चेष्टा की। इन्हीं दिनों गोगां की अवसादमय कलाकृतियों का उनके मन पर गहरा असर पड़ा और फिर जागा वह स्फुरण, जिसने १९३४ में उन्हें भारत की ओर मोड़ दिया। यद्यपि भारत के प्रति उनके मन में पहली बार से ही एक आकर्षण पैदा हो चुका था, पर इस बार तो उनके व्यक्तित्व, जीवन और कला में एक नया अध्याय ही प्रारम्भ हो गया।

अमृता का जन्म ३० जनवरी, १९१३ को बुडापेस्ट में हुआ। पिता श्री उमरावसिंह शेरगिल पंजाबी थे और माता हंगेरियन। बालिका अमृता जन्म से असाधारण लगती थी। खुला मस्तिष्क, बड़ी-बड़ी गहरी आंखें और लम्बे रेशमी बाल। जो देखता वही कह देता, बच्ची असाधारण प्रतिभावाली होगी। मां अण्टो-एनेट शेरगिल के अनुसार, "अमृता को अपनी छोटी बहन इन्दिरा से, जानवरों के बच्चों से, प्राकृतिक दृश्यों से, फूलों और पत्तियों से बेहद लगाव था। वह छोटी बहन के अंगों से लेकर खिलौनों, जानवरों की हरकतों और फूलों की पंखुड़ियों

तक का बड़े ध्यान से निरीक्षण किया करती थी। वह जन्मजात कलाकार थी।"
अमृता ने भी आगे चलकर लिखा, "मुझे ऐसा लगता है जैसे मेरे चित्रांकन का किसी एक क्षण में श्रीगणेश नहीं हुआ। मैं सदा से ही चित्र बनाती आई हूं और मात्र यही मेरे जीवन का ध्येय है।" पांच साल की अमृता अपने खिलौनों की हूबहू आकृतियां पेंसिल से कागज़ पर उतारने लगी। सात साल की उम्र तक वह पेड़-पौधों के ही नहीं, कहानियों के भी चित्र बनाने लगी थी।

अमृता की मां कलाप्रेमी और कलापारखी थीं। उनकी वंश-परंपरा में चित्र-कला के प्रति विशेष अभिरुचि रही थी। अमृता को मां से न केवल प्रेरणा मिली, उसे कलाकार बनाने के लिए भी मां ने कोई कसर न छोड़ी थी। मां की कला-पारखी आंखों ने तुरन्त बच्ची के कला-रुझान और कला-प्रतिभा को पहचान लिया। उन्होंने अमृता की कला-शिक्षा शुरू करवा दी। अमृता अभी ७ वर्ष की ही थी कि उसकी प्रतिभा के वैज्ञानिक परीक्षण का एक अवसर उपस्थित हो गया। १९२० के क्रिसमस की बात है। परिवार में एक प्रसिद्ध मनोविश्लेषक की दावत थी। उस विशेषज्ञ का ध्यान अमृता के चेहरे की ओर गया और उसने तुरंत उसकी प्रतिभा की परीक्षा लेनी शुरू कर दी। इस मानसिक परीक्षा के दौरान मनो-विश्लेषक डा० उझेल्यी ने उसे खूब-खूब परेशानियों में उलझाया। बालिका अमृता पसीने-पसीने हो गई, पर परीक्षण में सफल उतरी। डा० उझेल्यी ने रिपोर्ट लिखी, "इस वैज्ञानिक परीक्षण से सिद्ध हो गया है कि अमृता में असाधारण प्रतिभा है, उसे विकसित किया जाना चाहिए, पर थोड़ी सावधानी बरत कर, अन्यथा वह कुछ भयावह प्रभाव भी ग्रहण कर सकती है।" और अमृता के चित्रकार के सही विकास के लिए मां का निश्चय और दृढ़ हो गया।

१९२१ में अमृता अपने माता-पिता के साथ भारत आ गई। आठ वर्ष की आयु में भारतभूमि पर उसका यह पहला कदम था। यहीं शिमला में अमृता की अंग्रेज़ी, संगीत और चित्रकला की पढ़ाई आरम्भ हुई। चित्रकारी के अभ्यास के लिए घर पर एक अंग्रेज चित्रकार नियुक्त किया गया। तीन वर्ष तक अमृता ने उस शिक्षक के निर्देशन में अभ्यास कर अपनी विलक्षण प्रतिभा, सच्ची लगन, दृढ़ इच्छाशक्ति और कला-सूझ का ऐसा परिचय दिया कि वह अंग्रेज़ी चित्रकार दंग रह गया। उसने शेरगिल दम्पति को सलाह दी कि बच्ची को चित्रकला की उच्चकोटि की शिक्षा दिलाने विदेश भेजा जाए। मां ने भी जब चित्रकला के प्रति बच्ची का समर्पण देखा तो उसके लिए सब कुछ करने को तैयार हो गई। साधन-सुविधाएं तो थी हीं। मां अमृता को लेकर १९२४ में यूरोप के लिए चल पड़ी। इंग्लैंड, इटली, फ्रांस सभी जगह ले जाकर उसने अमृता के कला-संस्कार को विक-

सित करने में कुछ उठा न रखा। फिर पेरिस में अमृता की चित्रकला की विधि-

वत् शिक्षा आरम्भ हुई। उसकी प्रतिभा पनपी, विकसित हुई और एक छोटी आयु में ही उसने सभी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया।

१९३४ में भारतीय कला की ओर उन्मुख हो जब अमृता भारत लौटीं तो शिमला में अपने स्टूडियो में काम आरंभ करने से पूर्व उन्होंने पूरे देश का भ्रमण किया। उत्तरप्रदेश में अपने पिता की रियासत सराया में रहकर ग्रामीण जीवन का नज़दीक से अध्ययन किया और फिर उनके जीवन का ध्येय निश्चित हो गया। यहीं अमृता की कला में भारतीयता का मोड़ आया। अमृता ने जीवन के उज्ज्वल पक्ष को छोड़कर अंधेरे में टटोलना आरम्भ किया और सामान्य भारतीय चेहरों के विषाद की हर रेखा को मूर्त करने लगी। फिर दक्षिण यात्रा के दौरान अजन्ता के चित्रों ने जो नई प्रेरणा दी, वहीं उसने परंपरागत भारतीय कला और पश्चिमी आधुनिक कला के मिलन-बिन्दु को खोज लिया। यद्यपि समग्रता में उनकी कला फिर भी भारतीय ही थी पर उसमें बंगाल स्कूल की रूढ़िवादिता की जगह आधुनिक बोध था, और थी कला में एक नये अस्तित्व की स्थापना और उसे गति प्रदान करने की चाह। अन्य समकालीन कलाकारों की तरह अमृता ने अजन्ता और राजपूती कला का भी अन्धानुकरण न कर अपनी कला में पाश्चात्य व पूर्वीय आवश्यक कला-तत्त्वों का सफल समन्वय किया। यह सर्वथा नवीन शैली ही बाद में 'अमृता शैली' कहलाई, जो वर्षों तक नये कलाकारों का प्रेरणास्रोत बनी रही।

अमृता ने पहाड़ी दृश्यों को, सामान्य जीवन की आशा-निराशा को, मन की आकुलता-विह्वलता को बड़ी खूबी के साथ अपने चित्रों में उतारा है। कला के मर्मस्थल में पैठ भारतीय जीवन के गहन सत्यों का सर्वोत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करना विदेशों में पली, शिक्षा पाई एक कम-उम्र की युवती के लिए कोई आसान काम न था। पर अमृता का अन्तरंग बड़ा सजग और संवेदनशील था और बहिरंग बड़ा निर्भीक, स्पष्ट और सुलझा हुआ। यही कारण है कि आलोचकों की परवाह न कर वे स्वयं निर्मित अपने पथ पर बढ़ती गईं। उनकी कला में सूक्ष्म भावों की पकड़ के साथ इस निर्भीकता, यथार्थता और सशक्तता का भी पूरा आभास मिलता है। उनकी शैली पूर्णरूपेण भारतीय न होकर भी उसकी आत्मा भारतीय है। गरीब भारतीयता के चित्रण में अमृता ने भावुकता की बजाय यथार्थता को अपनाया और यहीं उनकी कला ने समकालीन कला से हटकर एक नये पथ को प्रशस्त किया।

कला-संवेदना और सजगता के साथ अमृता में एक सजग-संवेदनशील नारी

और आदर्श पत्नी भी विद्यमान थी। १९३२ में उनका विवाह एक डाक्टर विक्टर

एगन से हुआ। पति के साथ सराया (गोरखपुर) में कई वर्ष तक रहकर वहीं उन्होंने अपने अधिकांश प्रसिद्ध चित्र बनाए। फिर १९४१ में पिता की रियासत छोड़कर इसलिए लाहौर में जा बसने का निर्णय किया कि एक यूरोपीय डाक्टर (उनके पति) की प्रैक्टिस की संभावनाएं सराया में नहीं, लाहौर में थीं और वे अपनी एकांत कला-साधना की खातिर उसमें बाधक नहीं बनना चाहती थीं। अमृता और विक्टर एगन का दाम्पत्य-जीवन बहुत सुखी व आनंदमय था। पर लाहौर जाने के कुछ समय बाद ही अमृता अपने प्रिय पति और माता-पिता को बिलखता छोड़कर चल बसीं। ५ दिसंबर, १९४१ में केवल २९ वर्ष की अल्पायु में यह महान चित्रकर्त्री इस संसार से विदा हो गई। तीन दिन पूर्व तो अमृता लाहौर लिटरेरी लीग हाल में वेश बदलकर अपने प्रदर्शित चित्रों को देखने की योजना बना रही थीं कि अपनी कृतियों पर लोगों की सम्मतियों का अध्ययन कर सकें। कला की समझ से रहित कथित कला-समीक्षकों की बजाय वे दर्शकों की राय को कहीं अधिक महत्त्व देती थीं, इसलिए शायद उन्हें यह विश्वास था कि इनमें से ही कोई पारखी इन समीक्षकों की राय को उलटकर उनकी कला का सही मूल्यांकन करेगा, पर वे उस मूल्यांकन को देखने के लिए ज़िन्दा न रहीं। दो दिन की बीमारी में ही चल बसीं।

अमृता के असामयिक निधन पर संसार-भर से सांत्वना के संदेश आए। स्थान-स्थान पर शोकसभाएं आयोजित की गईं। सभी कला-प्रेमियों, समर्थकों व विरोधियों ने श्रद्धांजलियां अर्पित कर कला-संबंधी कुछ मतभेदों के बावजूद उनके कलाकार की महानता को स्वीकारा। उनकी कला पर लेख लिखे गए और उनके कलाकार के संस्मरण। महात्मा गांधी जैसे राष्ट्रनेता ने भी अमृता की शोकाकुल मां को सांत्वना सन्देश भेजा, उस मां को जिसने अमृता को कलाकार बनाने के लिए क्या-क्या नहीं किया था। पर अमृता उनके व अपने स्वप्नों को अधूरा छोड़ चली गईं।

फिर भी अमृता को अपनी अद्भुत सृजन-क्षमता से, अपने कृतित्व से भारतीय चित्रकला के आधुनिक युग के श्रीगणेश का श्रेय प्राप्त है। उन्हें जो 'भारत में आधुनिक चित्रकला की अग्रदूत' की संज्ञा से विभूषित किया गया है, वह भारत देश और भारतीय नारी के लिए विशेष गौरव की बात है।

ज्यों-ज्यों समय बीत रहा है, अमृता शेरगिल की कला पर और सूक्ष्म अध्ययन सामने आ रहे हैं और उनका मूल्यांकन अधिक समृद्ध हो रहा है। 'ललित कला अकादमी' की ओर से 'आधुनिक भारतीय चित्रकार' के अंतर्गत उन पर एक

पुस्तिका प्रकाशित हुई है। मार्ग प्रकाशन, बंबई से भी इधर 'अमृता शेरगिल' नाम से एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक आई है जिसमें विद्वानों और कला समीक्षकों के अध्ययनों, टिप्पणियों के अलावा अमृता के पत्रों और कला संबंधी उनके लेखों को भी सम्मिलित किया गया है।
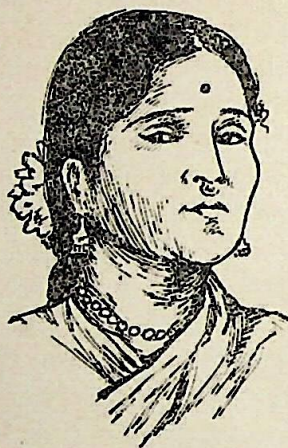
भरतनाट्यम् की युग-नेत्री

टी० बाला सरस्वती

कला-प्रेमियों के लिए जिस प्रकार नृत्यों में भरतनाट्यम् का नाम सुपरिचित है, उसी प्रकार कलाकारों में बाला सरस्वती का। बाला सरस्वती को ही भरत-नाट्यम जैसे लोकप्रिय शास्त्रीय नृत्य को मंदिरों की चारदीवारी और कुलीनता के घेरे से निकालकर सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनाने का श्रेय प्राप्त है। आज जिस नृत्य की देश में व देश के बाहर इतनी चर्चा और ख्याति है, बहुत कम लोग (विशेष-तया उत्तर भारत में) जानते हैं कि सदियों पूर्व की एक प्राचीन समृद्ध परंपरा से जुड़ा होने पर भी जनसाधारण के बीच आने का इस नृत्य का इतिहास पुराना नहीं है, और बाला सरस्वती को ही उसके पुनरुद्धार व पुनस्संस्कार का श्रेय प्राप्त है। इसीलिए उन्हें भरतनाट्यम् की युग-नेत्री कहा जाता है। रुक्मणि अरुण्डेल जैसी प्रख्यात नर्तकियां भी उनकी शिष्याएं हैं।

श्री नारायण मेनन के शब्दों में "जिसने एक उत्साही परंपरा के क्रियान्वयन

में सुधार कर उसे समृद्धि और स्तर प्रदान किया अर्थात् भरतनाट्यम् की एक पूरी

पीढ़ी का नेतृत्व किया, वह नाम है विश्व की तीन सर्वोच्च कलाकारों में से एक बाला सरस्वती। शेष दो नाम हैं: अन्ना पावलोवा और वासलाव निजिंस्की। बाला सरस्वती सही मायने में एक महान कलाकार हैं जिन्होंने लोकप्रियता के स्तर पर भी शास्त्रीय विशुद्धता को कायम रखा है। उनका नाम भारतीय नृत्य-इतिहास में सर्वोच्च कलाकार के रूप में लिया जाएगा।"

कर्नाटक संगीत-नृत्य का इतिहास और बाला सरस्वती के परिवार का इतिहास परस्पर जुड़ा है। पिछले दो सौ वर्षों से नृत्य-संगीत इस परिवार की परंपरा रही है। यूं भी कहा जा सकता है कि इस वंश-वृक्ष की हर डाल-शाखा नृत्य-संगीत से भरपूर है। बाला सरस्वती की परदादी की परदादी भी तंजोर महल की नर्तकी और गायिका रहीं। अठारहवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक यह परंपरा चलती रही। दादी तंजोर मंदिर में देवदासी थीं। मां जयम्माल भी एक कुशल नर्तकी व गायिका थीं। बाला सरस्वती का जन्म इस संगीत-नृत्यमय परिवार में १३ मई १९१८ को हुआ। दादी और मां की देखरेख में चार वर्षीया बाला सरस्वती का भी विधिवत् प्रशिक्षण प्रारंभ हो गया।

खून में, विरासत में नृत्य-संगीत प्राप्त करने वाली बाला सरस्वती ने अपने कलागुरु श्री कंडप्पन के शिष्यत्व में तीन साल की अल्पावधि में ही चमत्कार कर दिखाया। कांचीपुरम् के अमनाक्षी अम्मन मंदिर में जब उनका पहला सार्वजनिक प्रदर्शन हुआ तब वे सात वर्षीया बालिका ही थीं। शीघ्र ही नगर में समाचार फैल गया कि देवदासी धन्नम की पोती ने मंदिर में अपना प्रथम नृत्य प्रदर्शन किया और ज़रा भी विचलित हुए बिना हज़ारों दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर दिया। कला-विशेषज्ञ श्री नयना पिल्लै भी उस समारोह में उपस्थित थे, जिनके मुंह से 'आश्चर्यजनक' शब्द निकल पड़ा और शाम तक, उनके अनुसार, एक नई होनहार कलाकार का जन्म हो चुका था। बाला सरस्वती की उस उपलब्धि को एक बाल-सुलभ उपलब्धि से अधिक आंका गया और उसे उनकी प्रतिभा का चमत्कार कह-कर पुकारा गया, अन्यथा एक सात वर्षीया बालिका तोड़ी, वरनाम या पदम् की विशुद्धता को क्या समझ सकती है?

गुरु कंडप्पन ने बालिका की प्रतिभा देखकर और भी बड़ी साधना शुरू करवा दी। कई-कई घंटे अभ्यास चलता। रात को जल्दी भोजन लेने के बावजूद वह नन्ही बच्ची अक्सर प्रदर्शन के पूर्व मां के कंधे से लगकर सो जाती, जिसे निर्ममता से जगाकर नृत्य में लगाया जाता। पर इस कड़ी साधना से किशोरावस्था में ही वे एक कुशल नर्तकी के रूप में तंजोर के मंच पर उतर आईं। कंडप्पन गुरु

के अतिरिक्त गौरी अम्माल और चिन्नय्या नायडु जैसे लोगों से भी उन्होंने प्रभाव ग्रहण किया। अनेकों श्लोक कंठस्थ किए। लगभग पंद्रह वरनाम, कई जतिस वरनाम, शुभम्, असंख्य पदम् तथा जैवेलिस सीखे। अभिनय और कर्नाटक संगीत में कुशलता प्राप्त करने के बाद भरतनाट्यम् में पूर्णता प्राप्त करना ही उनका एकमात्र ध्येय हो गया।

पर नृत्य-निपुणता के ध्येय के साथ एक ध्येय और जुड़ गया, जिसके लिए उन्हें खूब संघर्ष भी करना पड़ा। परिश्रम और संघर्ष की इस कहानी ने ही भरतनाट्यम् का उद्धार किया है। इसके पूर्व भरतनाट्यम् अधिकतर मंदिरों में ही प्रदर्शित होता था या कभी-कभी कुलीन घरानों के विवाहोत्सव आदि पर। मंदिरों में देवदासियां इसे प्रस्तुत करती थीं और पुजारियों के अतिरिक्त कुलीन कहे जाने वाले लोग ही वहां उपस्थित रह सकते थे। जन-सामान्य के लिए वहां अनुमति नहीं दी जाती थी। बाला सरस्वती की मां जयम्माल इस दुःखद स्थिति को तीव्रता से अनुभव कर रही थीं। देवदासी-प्रथा-उन्मूलन बिल मद्रास विधान सभा में लाया जाने वाला था। अवसर देख जयम्माल ने भी अभियान छेड़ दिया। उन्होंने घोषणा कर दी कि वे अपनी बेटी को मंदिर की सीमा से निकाल सार्वजनिक मंच पर लाएंगी और उसे अपनी कला को व्यवसाय के रूप में अपनाने के लिए अनुमति देंगी। गुरु कंडप्पन और अरियाकूडि रामानुज आयंगर जैसे कुछ समर्थकों को छोड़ शेष लोग विरुद्ध हो गए। यहां तक कि प्रसिद्ध कला-विशेषज्ञ नयना पिल्ले और गोविंदस्वामी पिल्ले जैसों ने भी जयम्माल को पागल की संज्ञा दी। पर जयम्माल अपने संकल्प पर दृढ़ रही। उसने किसी भी विरोध की परवाह नहीं की।

अंत में 'म्यूज़िक अकादमी' मद्रास के विशेष प्रोत्साहन से बाला सरस्वती ने सार्वजनिक मंच पर अपना नृत्य प्रस्तुत किया। जनसाधारण में इतनी शीघ्र ख्याति फैली की शीघ्र ही बाला सरस्वती की सार्वजनिक मांग बढ़ गई। यद्यपि एक व्यावसायिक नर्तकी के रूप में प्रारंभ में उन्हें सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा गया, पर धीरे-धीरे यह स्थिति भी सुधरती चली गई। यह जीत बाला सरस्वती की व्यक्तिगत जीत तो थी ही, एक परंपरागत कला की मुक्ति के पक्ष में उनकी एक सामाजिक जीत भी थी। समाज-सुधार और कला-मुक्ति दोनों रूपों में इस कदम का स्वागत किया गया और देखते-देखते एक नाम पूरे दक्षिण भारत के कला-जगत् में उभरकर सामने आ गया।

मंदिरों में प्रस्तुत भरतनाट्यम् का प्रारंभिक स्वरूप कुछ क्रूर किस्म का था। नर्तकियां प्रायः रात-भर नाचती थीं। तीन या चार संगीतज्ञ हरी, लाल पगड़ी पहने कोने में खड़े रहते थे और मृदंग-वादक स्टेज पर आगे-पीछे नाचते-घूमते

रहते थे। जयम्माल और वाला सरस्वती के मौलिक प्रयत्नों से धीरे-धीरे यह सब

वदला और [illegible] गया। संगीतज्ञों की वेशभूषा शालीन हो गई।
संगीत और वाद्य-यंत्रों में भी सुधार हुआ। संगीतज्ञों का बैठने का स्थान निश्चित हुआ। नर्तकियां, जो भारी-भरकम प्रसाधन और वस्त्राभूषणों से लदी रहती थीं, उनकी वेशभूषा में भी सुरुचिपूर्ण परिवर्तन हुआ। नाचने के घंटों में कमी से भी उन्होंने राहत अनुभव की। मंच के सम्मान की रक्षा की जाने लगी, जिससे दर्शकों की रुचि में भी सुधार हुआ। भद्दी आवाज़ों का स्थान कला-रुचि और परख ने लिया। यद्यपि यह सब धीरे-धीरे ही हुआ, पर वाला सरस्वती को इन सुधारों में पहल करने का श्रेय तो प्राप्त है ही।

भरतनाट्यम् को कुलीनता के शिकंजे से निकाल सर्वसाधारण में उसकी चेतना जगाना कोई आसान काम न था। इसके लिए न जाने उन्हें क्या-क्या सहना पड़ा। विरोधियों ने चरित्र पर लांछन लगाए। प्रारंभ में ही चोट पड़ने पर १४ साल की उम्र में ही उनका स्वास्थ्य खराब रहने लगा था। ईर्ष्या, द्वेष से उत्पन्न मनगढ़न्त कहानियों ने कुछेक बार उन्हें इतना निराश कर दिया कि वे नृत्य ही छोड़ बैठीं। पर मां के संकल्प, गुरु के प्रोत्साहन और मद्रास संगीत अकादमी का सहायता से वे फिर-फिर काम में लग जातीं। सभी सृजनात्मक कलाकारों की तरह हर बार यह ठहराव उनके लिए नई शक्ति जुटाने में सहायक होता और हार जीत में बदल जाती। इसी तरह संघर्ष और परिश्रम से गुज़रते-गुज़रते वाला सरस्वती ने लोगों में यह चेतना जगाने का कार्य चालू रखा। एक सुधारक की तरह हाथ में टार्च लेकर या भाषणों द्वारा नहीं, अपने शास्त्रीय नृत्य को सौन्दर्य और कला की दृष्टि से विकसित करते-करते पूर्णता तक पहुंचाकर। प्रदर्शन के समय वे गौण हो जातीं, कला प्रमुख। कवितामय भावाभिनय, लय, गति, ताल, सभी में एक चमत्कार। कला में पूर्णता लाने के लिए उनकी कलाकार खो जाती और कला भभक उठती। उनके पूर्व व बाद की किसी कलाकार में वह शास्त्रीय विशुद्धता या पूर्णता नहीं देखी गई।

वाला सरस्वती की शिष्याओं ने देश-विदेश के कोने-कोने में उनकी देन को पहुंचाया। उनका आभार माना और सम्मान किया। पर वे उस शुद्धता को अक्षुण्ण न रख सकीं। लोकप्रियता के मोह में स्थानीय रुचि के अनुसार उसमें प्रयोग व परिवर्तन करती चली गईं। इसीलिए वे शीघ्र लोकप्रिय हो सकीं, पर वाला सरस्वती इस बारे में कोई भी समझौता न कर सकीं। मां जयम्माल की सीख को ध्यान में रख विशुद्ध कर्नाटक परंपरा को अक्षुण्ण रखना, उसे जनप्रिय बनाना और जनप्रिय बनाते हुए भी शास्त्रीय समृद्धि प्रदान करना उनका ध्येय

रहा। केवल कलामर्मज्ञ ही उनकी कला की सही व्याख्या कर सकते हैं। पर जिस-जिसने भी उनका नृत्य देखा है, वे चमत्कृत हुए बिना नहीं रहे। पचास वर्ष की आयु में भी उनकी तन्मयता भंग नहीं हुई थी।

बाला सरस्वती भरतनाट्यम् की नई पीढ़ी की आदि-कलाकार ही नहीं, एक सर्वोच्च और महान कलाकार भी हैं। भारत-भर में उनके नृत्य-प्रदर्शन हुए हैं। पर उपर्युक्त विशुद्ध शास्त्रीय कारणों से विदेश यात्रा का अवसर उन्हें १९६१ से पूर्व नहीं मिला। १९६१ में पहली बार ईस्ट-वेस्ट एनकाउंटर, टोकियो में उपस्थित अंतर्राष्ट्रीय दर्शकों के सामने उपस्थित होने पर एकबारगी वे नर्वस हो उठीं कि एक परंपरागत विशुद्ध शास्त्रीय कला को ये विदेशी कैसे समझेंगे ? पर शीघ्र ही उनका डर दूर हो गया। दर्शक सीटों से उछल पड़े। बाला सरस्वती को आशातीत प्रशंसा, सफलता व ख्याति मिली। १९६२ में फिर आप अमेरिका गईं और १६ केंद्रों पर विदेशी छात्रों को प्रशिक्षित किया। एक समारोह में प्रदर्शन पर एक समीक्षक ने लिखा, "यह एक अनोखा अनुभव था—समयहीन, सीमाहीन।" मुख्य अतिथि टेड शान ने भारतीय ढंग से हार पहनाते हुए उनके सम्मान में कहा, "एक महानता की उपस्थिति से यह रात एक ऐतिहासिक रात है।"

विदेशों में लोकप्रियता हासिल करने में उन्हें देर भले ही लगी हो, आज अमेरिका में सर्वाधिक लोकप्रिय भारतीय कलाकारों में सितारवादक रविशंकर और नृत्यांगना बाला सरस्वती के नाम ही प्रमुख रूप से लिए जा रहे हैं, जो इस बात का प्रमाण है कि विशुद्ध कला अधिक देर तक छुपी हुई नहीं रह सकती। आजकल आप अमेरिकी छात्र-छात्राओं के लिए भारतीय नृत्य-प्रशिक्षण के एक नियमित केन्द्र का भी संचालन कर रही हैं।

भारत में अपनी कला-देन के लिए वे १९५५ में संगीत नाटक अकादमी के 'राष्ट्रपति पुरस्कार' तथा दूसरी बार १९५७ में 'पद्मभूषण' के राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित हो चुकी हैं। पर उनकी कला सबसे ऊपर है, ठीक उसी तरह जैसे उनकी कलाकार प्रयोगशीलता के नाम पर आरोपित समस्त तामझाम और खुशफहमियों से अलग कला की विशुद्धता और पूर्णता को ही समर्पित है।

सुप्रसिद्ध मानव-शास्त्री

मार्गरेट मीड

मानव विज्ञान (एंथ्रोपोलोजी) और मानव जाति-विज्ञान (इथिनोलोजी) का अध्ययन अन्य सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा अधिक श्रमसाध्य और कष्टसाध्य है, पर कुछ लोग होते है जिन्हें ऐसे कष्टसाध्य अध्ययनों में ही आनंद आता है।

पुरातत्त्व और प्रागैतिहासिक खोजों की तरह मानवशास्त्रीय खोजों के लिए भी जिस साहस और धैर्य की अपेक्षा होती है उसे देखते हुए प्राय: 'ये अध्ययन-क्षेत्र पुरुषों के लिए ही उपयुक्त हैं' ऐसा मान लिया जाता है। पर कुछ नारियां हैं जो साहसपूर्वक ऐसे ही क्षेत्रों में प्रवेश करती हैं।

प्रवेश करने के बाद की फिर तीन स्थितियां होती हैं। नीरसता से ऊबकर या कठिनाइयों से घबराकर पीछे लौट आना, हठपूर्वक जमे रहकर जैसे-तैसे कुछ कर जाना तथा पूरी रुचि, लगन, साहस और प्रतिभा के संयोग से कुछ ऐसा कर दिखाना जो कि मानव जाति को आगे बढ़ाने में योग दे सके या कि पूर्वज्ञान में

खासा कुछ नया संचय कर सके।

आधुनिक युग की सुप्रसिद्ध मानवशास्त्री और अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकों की लेखिका-संपादिका मार्गरेट मीड का नाम इस तीसरी स्थिति की अग्रणी महिलाओं में ही लिया जा सकता है।

अपने देश से बहुत दूर के अनजान द्वीपों की यात्राएं करना और फिर-फिर यात्राएं कर अपने पूर्व-अध्ययनों को आगे बढ़ाना किसी ध्येय के धुनी व्यक्ति का ही काम हो सकता है। मार्गरेट मीड ने न्यूगिनी और बाली द्वीप की चार-चार बार यात्राएं कीं। १९३१, '३३, '५३ और '६४ में न्यूगिनी की तथा १९३६, '३८ '५७ और '५८ में बाली की। इसी तरह अन्य प्रदेशों की भी। मनुष्यों, मनुष्य-जातियों और उनकी बदलती स्थितियों-संस्कृतियों का अध्ययन उनका प्रिय विषय भी है, ध्येय भी। 'कमिंग आफ एज इन सामोआ', 'ऐन इनक्वायरी इनटु कल-चरल स्टैबिलिटी इन पोलीनीशिया' 'ग्रोइंग अप इन न्यूगिनी', 'द चेंजिंग कलचर आफ इंडियन ट्राइवल्स', 'सेक्स टेम्परामेंट इन थ्री प्रिमिटिव सोसाइटीज़', 'बाली-नीज़ चार्टर' 'मेल एंड फीमेल' 'ग्रोथ एंड कलचर', तथा कई भागों में बालो-पयोगी प्रसिद्ध ज्ञान-ग्रंथ 'पीपुल एंड प्लेसेज़' जैसी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें उनके इसी ध्येयवादी शौक का परिणाम हैं।

उनके द्वारा संपादित कुछ अन्य पुस्तकों के नाम हैं : 'कोआपरेशन एण्ड कंपिटीशन इन प्रिमिटिव पीपुल्स', 'प्रीमिटिव हेरिटेज', 'दि स्टडी आफ कल्चर एट ए डिस्टेंस', 'थीम्स इन फ्रेंच कल्चर', 'चाइल्डहुड इन कंटेम्पोरेरी कल्चर्स', 'न्यू लाइव्स फार ओल्ड', 'कल्चरल पैटर्न एंड टैक्नोलोजिकल चेंजेज़,' 'कंटीन्यूएशन इन कल्चरल इवोल्यूशन' 'एंथ्रोपोलोजी—ए ह्यूमेन साइंस, "एन एंथ्रोपोलोजिस्ट एट वर्क' आदि। 'एन एंथ्रोपोलोजिस्ट एट वर्क' में जहां उन्होंने कठिन क्षेत्र के इन अनुभवों और अपनी कार्य-प्रणाली को इस क्षेत्र में रुचि रखने वाले नवागंतुकों को पहुंचाया है, वहां उनके लिए आगामी अध्ययनों-संबंधी भर-पूर मसाला भी छोड़ा है। उनके द्वारा प्रस्तुत आदिम जातियों और संस्कृतियों के कुछ अध्ययन तो सर्वथा नई उपलब्धियां हैं, जिनपर आगे काफी कुछ किए जाने की संभावना है। इसलिए विश्व के समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों में श्रीमती मार्गरेट मीड का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है।

मार्गरेट मीड का जन्म १९०१ में फिलाडेलफिया में हुआ। बर्नार्ड कालेज से बी० ए० व कोलंबिया यूनिवर्सिटी से एम० ए० करने के बाद उन्होंने लोवा नेशनल रिसर्च कौंसिल की फेलोशिप लेकर मानवशास्त्र में शोध-कार्य किया और १९२८ में पी-एच० डी० की डिग्री प्राप्त की। इस बीच १९२६ में उन्होंने

वि-१०

प्राकृतिक इतिहास के अमेरिकी संग्रहालय में उप-संग्रहपाल (असिस्टेंट क्यूरेटर) के रूप में काम करना भी आरंभ कर दिया था। बाद में वहीं १९४२ में सह-संग्रहपाल और फिर १९६४ में मुख्य संग्रहपाल के रूप में उनकी पदोन्नति हो गई। लेकिन उनका कार्य म्युज़ियम तक ही सीमित नहीं रहा।

अपनी मानवशास्त्रीय अध्ययन-यात्राओं के बाद प्रस्तुत विशिष्ट अध्ययनों से उन्होंने सारे देश का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। ख्याति बढ़ने पर १९४८ में उन्हें कोलंबिया विश्वविद्यालय की 'रिसर्च इन कंटेम्पोरेरी कल्चर्स' की डायरेक्टर नियुक्त किया गया। फिर १९५४ से विभिन्न विश्वविद्यालयों के मानवशास्त्रीय और मनोविश्लेषणीय अध्ययन विभागों में विज़िटिंग प्रोफेसर के रूप में भी नियुक्त कर उनकी विद्वत्ता का सम्मान किया गया।

मार्गरेट मीड का देश की अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण संस्थाओं से भी सक्रिय संबंध रहा है, और है, जिनमें से 'अमेरिकन एंथ्रोपोलोजिकल सोसाइटी', 'अमेरिकन इथिनोलोजिकल सोसाइटी', 'अमेरिकन एसोसिएशन आफ एडवांसमेंट आफ साइंस', 'सोसाइटी फार एप्लाइड एंथ्रोपोलोजी,' 'एसोसिएशन फार यूनीवर्सिटी वीमेन', 'सोसाइटी आफ वीमेन ज्योग्राफर्स', 'वर्ल्ड फेडरेशन आफ मेंटल हेल्थ', 'कमेटी आन फूड हैबिट्स', 'इंस्टीट्यूट फार इंटेलेक्चुअल स्टडीज' आदि नाम प्रमुख हैं। इनमें से किसीकी अध्यक्ष और किसीकी मंत्री भी रही हैं। महिला संस्थाओं और महिला आंदोलनों में भी वे सदा आगे रही हैं।

अपने विशिष्ट कार्य के लिए उन्हें कई बार विशिष्ट सम्मानों और पुरस्कारों से भी अलंकृत किया गया है। आज वे एक मानवशास्त्री के रूप में विश्व-ख्याति अर्जित कर चुकी हैं। संसार-भर में उनकी पुस्तकों की मांग और चर्चा है। बच्चों के लिए लिखित उनकी 'पीपुल्स और प्लेसेज़' से तो संसार के न जाने कितने बच्चे हर रोज़ लाभ उठाते हैं। श्रीमती मार्गरेट मीड पहले अपनी अध्ययन-यात्रा के लिए भारत आई थीं, फिर सन् १९७३ में 'नेहरू स्मारक भाषण' के लिए। नई दिल्ली के तीनमूर्ति भवन में 'एक संसार' की अपनी कल्पना प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा, "जनतंत्र, पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि आज के आदमी के लिए पर्याप्त राजनैतिक विचार नहीं हैं। हमें ऐसा नया राजनीतिक स्वरूप चाहिए जो आदमी को मैत्री, शांति, सद्भाव से रहने दे। पृथ्वी के साधनों का संरक्षण हो और प्रदूषण कम कर सके। हमारे ग्रह पर दूषण बढ़ता जा रहा है जिससे मानवता के नाश का खतरा है। स्थिति इतनी भयंकर है कि हमें समस्याओं का हल निकालने के लिए मजबूर होना ही पड़ेगा। नृवंश विज्ञान सारी मानवता को देखता है। उसके निष्कर्ष हैं कि मनुष्य की सभी क्षमताओं का पृथ्वी पर अभी

उपयोग नहीं हुआ है। आशा की किरण यहीं दिखाई देती है। हमें इसी दिशा में सोचना है और शीघ्र कुछ करना है।"

ऐसे विशिष्ट क्षेत्र के विशिष्ट ज्ञान व अनुभव की अधिकारिणी इस साहसी और विदुषी नारी का नाम नवयुवतियों के लिए एक प्रेरणा है, भारतीय युवातियों के लिए तो अवश्य ही।
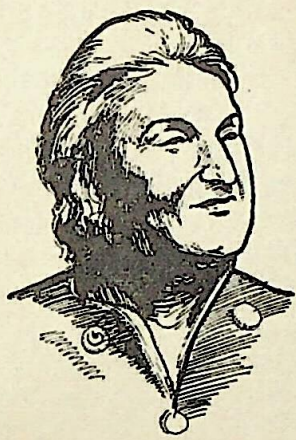
आधुनिक 'नारी-मुक्ति-आंदोलन' की जन्मदात्री

बेट्टी फ्राइडन

अमेरिका में चल रहे 'नारी-मुक्ति-आन्दोलन' की चर्चा आज विश्व-भर की प्रबुद्ध महिलाओं की ज़बान पर है। शायद ही कोई पत्र-पत्रिका बची हो, जिसने इस आन्दोलन के समाचार और विवरण न छापे हों। लेकिन यह बात शायद कम लोगों को मालूम होगी कि इस आन्दोलन के पीछे एक असाधारण क्रांतिकारी पुस्तक का हाथ है। उस पुस्तक का, जिसने नारी-मन और नारीत्व-प्रतिमान के उन रहस्यों को खोलकर विश्व-भर की महिलाओं के सामने रख दिया है जिन्हें वे भीतर ही भीतर वर्षों से महसूसती रहीं, पर जिन्हें कोई नाम या आकार नहीं दिया जा सका।

सन् १९६३ में प्रथम बार प्रकाशित इस पुस्तक का नाम है 'द फेमिनिन मिस्टिक' और इसकी लेखिका हैं बेट्टी फ्राइडन।

अपनी पुस्तक के कथ्य को व्यावहारिक रूप देने के लिए ही उन्होंने 'राष्ट्रीय

महिला-संगठन' की नींव डाली थी और उसके माध्यम से 'नारी-मुक्ति आन्दोलन' का नारा गुंजाया था। आज वे संगठन से त्यागपत्र दे चुकी हैं पर 'नारी-मुक्ति-आन्दोलन' आज भी उनके नाम से ही जुड़ा है, क्योंकि उसका आधार है उनकी वही क्रांतिकारी पुस्तक। आज भी वे आन्दोलन को नये-नये नारे देकर विश्व-भर की महिलाओं का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती रहती हैं। २६ अगस्त, १९७० को, जो कि अमेरिकन स्त्रियों को मताधिकार-प्राप्ति की स्वर्णजयंती का दिन था, उन्होंने देश-भर की स्त्रियों से अपील की कि इस दिन वे अपने-अपने कार्यालयों में काम छोड़कर निष्क्रिय बैठ जाएं और तब तक काम शुरू न करें जब तक कि मालिक अपनी कम्पनी में उन्हें पुरुषों के समान काम के लिए समान वेतन और सभी पदों पर नियुक्तियों के लिए समान अवसर देने का आश्वासन न दे दें। उन्होंने समाचार-पत्रों से भी अनुरोध किया कि वे स्त्री-पुरुष के कामों में भेदभाव करने वाले विज्ञापन न छापें। यदि आधी मानव-जाति को उन पचास प्रतिशत कामों से वंचित रखा जाता है जो रोचक, श्रेयस्कर और लाभदायक हैं तो यह व्यक्ति के विकास के लिए अहितकर और समाज के लिए घाटे का सौदा है।

श्रीमती बेट्टी फ्राइडन ने अपनी पुस्तक 'द फेमिनिन मिस्टिक' में व्यापक अध्ययन और शोध पर आधारित सैकड़ों तथ्य और आंकड़े जुटाकर यह सिद्ध किया है कि विश्व-युद्ध के बाद से पुरुष-प्रधान समाज ने मनोवैज्ञानिक दबाव डालकर स्त्रियों को वासनापूर्ति का साधन बनने और मां, गृहिणी तथा उपभोग्य की भूमिकाएं स्वीकार करने को विवश किया है। इसके परिणामस्वरूप स्त्रियों की मौलिक प्रतिभा कुंठित हुई है, समाज में उच्छृंखलता और अस्थिरता बढ़ी है तथा कार्यक्षेत्र में नारी के बढ़ते कदम अपनी आधी मंज़िल से ही फिर पीछे लौटने लगे हैं।

समाज पर फ्राइड के दुष्प्रभावों का विवेचन करते हुए वे लिखती हैं—फ्रायड ने अपने परिवार की यहूदी परम्पराओं के प्रभाव में और उस समय की कुंठाग्रस्त स्त्रियों के अध्ययन से जो निष्कर्ष निकाले हैं, उन निष्कर्षों ने बहुत भ्रम फैलाए हैं, यहां तक कि यह प्रभाव प्रसिद्ध मानवशास्त्री मार्गरेट मीड जैसी प्रबुद्ध नारी को भी भटका ले गया। अपरिचित आदिम जातियों के समाजों को समझने में जहां फ्रायड के विचार उनके लिए सहायक सिद्ध हुए, वहां उनपर आधारित उनकी यह घोषणा कि प्रजनन और बच्चों का पालन-पोषण ही नारी की मुख्य भूमिका है और स्त्रियों को यह सलाह देकर कि उनका घर से बाहर का काम भी समाज में उनकी मुख्य भूमिका से जुड़ा होना चाहिए, मार्गरेट मीड ने न

केवल समस्त नारी-जाति के प्रति अन्याय किया है बल्कि अपने प्रति भी। स्वयं

मार्गरेट मीड ने अपना कार्यक्षेत्र पत्नीत्व, नारीत्व और मातृत्व तक सीमित क्यों नहीं रखा? वे आधुनिक युग की एक असाधारण प्रतिभा और स्वतन्त्रचेता मानव-विज्ञानी के रूप में क्यों सामने आईं ? इस रूप में क्या वे पूर्ण नारी नहीं रहीं ? या कि उनके नारीत्व में कोई कमी आ गई ? इसलिए बेट्टी फ्राइडन आधुनिक लड़कियों को सलाह देती हैं कि वे मार्गरेट मीड के व्यक्तिगत जीवन का अनुकरण करें, आदिम जातियों के अध्ययन पर आधारित उनकी सलाह का नहीं।

मातृत्व नारी की शारीरिक भूमिका है, रहेगी। इसलिए विवाह और यौन-जीवन को ही उसका क्षेत्र मान लिया जाए और इसीसे समाज में उसके योग-दान व स्थान का निर्धारित किया जाए, यह उचित नहीं। मातृपद की प्रतिष्ठा प्रत्येक काल में निर्विवाद रही है, फिर भी नारी को दूसरे दर्जे का मानव मानना और उसकी स्थिति को पुरुष से हीन समझना उसके प्रति अन्याय है। नारी पुरुष से दुर्बल, हीन और अक्षम है, ये मान्यताएं पुरुष बहुमत की स्वार्थ प्रेरित स्थापनाएं ही कही जा सकती हैं इसलिए कि आज तक का मनुष्य-जाति का सम्पूर्ण विकास पुरुष का विकास रहा है या पुरुष-प्रेरित। इस सारे विकास में नारी की भूमिका नगण्य रही। आश्चर्य है कि विज्ञान, समाज-विज्ञान और मनोविज्ञान ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया और तथ्यों पर पड़ा परदा हटाने की कोशिश नहीं की। शायद पीढ़ियों की परम्परा इसमें बाधक रही। पर अब समय आ गया है जब विज्ञान नारी-जीवन के सभी मनोवैज्ञानिक पक्षों को उभारकर सामने ला देगा और रूढ़िगत भ्रमों के जाल टूट जाएंगे। केवल इसलिए नहीं कि विज्ञान और तक-नीकी विकास ने पुरुष की शारीरिक शक्ति के महत्त्व को कम कर दिया है, मशीनें बाहुबल का स्थान लेती जा रही हैं और उद्योगों में स्त्रियों के लिए काम के अवसर सुलभ होते जा रहे हैं, इसलिए भी कि अब स्त्रियां स्वयं वैज्ञानिक, मनो-वैज्ञानिक, समाजशास्त्री और शोधकर्ता के रूप में सामने आ रही हैं। वे उन अछूते विषयों पर शोध करेंगी और उन रहस्यों पर से परदा उठाएंगी जिनके कारण सदियों से नारीत्व कुंठित रहा है और समाज विकृत।

श्रीमती बेट्टी फ्राइडन स्वयं एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक हैं। अपने क्षेत्र में विस्तृत अध्ययन, शोध करने और व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करने के बाद इस अनुभव को और निखारने तथा उसे प्रभावित रूप में जन-जन तक पहुंचाने के लिए फिर वे पत्र-कारिता के क्षेत्र में उतरीं। उनके शब्दों में, "मैं स्वयं एक पत्नी, गृहिणी और तीन बच्चों की मां हूं। पर पत्नी, मां और कैरियर-नारी की सम्मिलित भूमिका निभाते-निभाते मुझे निरन्तर लगता रहा है, 'कहीं कुछ गलत है।' मैं घर में अधूरे मन से

काम करती और बाहर जाते हुए एक अपराधी-सी भावना मे घिरी रहती। अपनी योग्यताओं का व्यापक क्षेत्र में उपयोग मन में अपराधी भावना जगाए।—ऐसा

क्यों ? यह प्रश्न स्वयं मेरे भीतर से बार-बार फूटता।"

१६५७ में अपने इस प्रश्न से जब वे बहुत विकल हो गईं तो उन्होंने उत्तर खोजने के लिए एक प्रश्नावली तैयार की और उसे अपने कालेज-जीवन की पन्द्रह साल पीछे छूट गई सहपाठिनियों के पास भेजा। कुछ अन्य परिचिता स्त्रियों के पास भी। कुल दोसौ उत्तर प्राप्त हुए, जिनसे एक बात स्पष्ट हो गई कि भीतर कहीं गहरे में यह प्रश्न लगभग सभीके अन्दर है। यह भी कि स्कूल-कालेज की शिक्षा का इस प्रश्न से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसके अलावा उस सीमित शिक्षा और पत्र-पत्रिकाओं द्वारा दी जाने वाली दैनंदिन व्यापक शिक्षा के प्रभाव में भी अन्तर है। निरन्तर दोहराव वाली दैनंदिन शिक्षा का प्रभाव अधिक पड़ना स्वाभविक ही है। समाचार-पत्रों के महिला कालम और महिला पत्रिकाएं व्यापक विषयों से हटकर पति, घर, बच्चे वेशभूषा, सौन्दर्य, भोजन, गृहसज्जा आदि घरेलू विषयों पर ही नारी का ध्यान अधिकाधिक केन्द्रित रखती आ रही हैं। स्त्री-शिक्षा के पाठ्यक्रम भी प्रायः लड़कियों को घरेलू बनाने और उन्हें विवाह के लिए तैयार करने के उद्देश्य से ही निर्धारित किए जाते हैं। उनमें उच्च महत्त्वाकांक्षाएं न पैदा हों और बौद्धिक उपलब्धियों के प्रति उनका आकर्षण न बढ़े इसलिए बार-बार नारीत्व पर ज़ोर दिया जाता है, मानो नारीत्व प्रतिभा और उसकी उपलब्धियों की कोई विरोधी चीज़ हो। नारीत्व का यह मुखर आग्रह ही उच्च तकनीकी, वैज्ञानिक और व्यवसायिक क्षेत्रों से लौटाकर स्त्रियों को फिर घरों की ओर अभिमुख कर रहा है।

आज की औद्योगिक व्यवस्था में विज्ञापनबाज़ी का भी जन-मन पर गहरा प्रभाव है। विज्ञापन सर्वेक्षणों से सिद्ध हुआ है कि न तो अशिक्षिता नारी अच्छी खरीदार होती है, न कामकाजी नारी ही। घरेलू किस्म की शिक्षिता नारियां ही अपने मानसिक अभाव और अकेलेपन के शून्य को भरने के लिए उपभोग की विविध वस्तुओं की खरीददारी की ओर आकृष्ट होती हैं। तो व्यावसायिक मनोवैज्ञानिक इसका लाभ उठाकर विज्ञापनबाज़ो को इसी दिशा में संयोजित करता है और घरेलू-उपकरणों, फैशन-भूषाओं व सौन्दर्य-प्रसाधनों का आकर्षण नारी को कामकाज से उदासीन कर घरों की ओर लौटा ले चलता है। बेट्टी फ्राइडन ने सैकड़ों महिलाओं के इंटरव्यू लिए और पाया कि भीतर ही भीतर किसी अभाव, एक अनुत्तरित प्रश्न से मथी जाकर भी वे इस परिवेशजनित मनोवैज्ञानिक प्रभाव से अपनी पत्नीत्व, मातृत्व व गृहणीत्व की सीमित भूमिका

के प्रति संतोष व्यक्त करती दिखाई दीं। लेकिन औसत दो घंटे से लेकर दो दिन

तक की बातचीत के दौरान अधिकांश ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया कि गृहस्थी, पति, बच्चे—इन सबके बीच 'मैं कौन हूं!' या 'मेरी अपनी स्वतन्त्र स्थिति क्या है?' यह प्रश्न निरन्तर उनके बीच सुलगता रहा। हर नारी के भीतर अपने अस्तित्व की इस छिपी कामना को, जो उन्हें अक्सर कुंठित करती है और विचित्र व्यवहारों के प्रति प्रेरित भी, बेट्टी फ्राइडन ने एक ऐसी समस्या कहा है जिसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता।

जिसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता, उस समस्या को सुलझाने के लिए या कहिए नारी-मन के रहस्यों को खोलने के लिए बेट्टी फ्राइडन ने एक मिशन के रूप में निरन्तर श्रम किया। मनोवैज्ञानिक से रिपोर्टर बनकर उन्होंने हर क्षेत्र की स्त्रियों से, महिला-पत्रिकाओं के संपादकों से, विज्ञापन-कम्पनियों के शोधकर्ताओं से, नारी-विषयों के विशेषज्ञों-मनोवैज्ञानिकों, मनचिकित्सकों, समाजशास्त्रियों और परिवारिक जीवन-सलाहकारों से, समाज-नेताओं, नेत्रियों से, कालेज की विद्यार्थिनियों से भेंट कर अनेक तथ्य और आंकड़े एकत्रित किए। और फिर अपने निष्कर्षों को अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'द फेमिनिन मिस्टिक' में प्रस्तुत किया। उनके द्वारा लिए गए साक्षात्कारों की अधिकांश कहानियां नारी के विभाजित मन की कहानियां हैं। उन सामान्य और साधारण कहानियों के पीछे जो एक असामान्य और असाधारण कहानी छिपी थी, उसे ही सामने लाकर बेट्टी फ्राइडन ने न जाने कितने पूर्व अध्ययनों और उनपर आधारित पूर्व धारणाओं का खण्डन किया। इससे एकबारगी पूरे समाज में सनसनी फैलना स्वाभाविक था। इस क्रान्तिकारी पुस्तक को पढ़ने के बाद अमेरिका के वर्तमान 'नारी-मुक्ति आन्दोलन' की भूमिका स्पष्ट ही उभरकर सामने आ जाती है।

'नारी-मुक्ति-आन्दोलन' का नारा 'समान काम के लिए समान वेतन' ही नहीं है, उसके साथ यह भी है कि 'अपने शरीर पर अपना वश हो'। पुरुषों के लिए सजने-संवरने, विवाह, गर्भाधान और गृहिणीत्व की अनिवार्यता उनपर न लादी जाए। पुरुष की तरह नारी को भी पूरा अधिकार हो कि वह अपने लिए कैसा जीवन या जीवन-पद्धति चुने। वह अपने लिए स्वर्ग चुने या नरक, पर चुनाव उसका अपना हो। उसपर कोई दबाव न हो। फ्रायड के घातक प्रभाव का वर्णन करते हुए वे लिखती हैं कि जहां पहले यौन-जीवन के प्रति स्त्रियों की एक सहज अरुचि या कम रुचि अच्छी समझी जाती थी, वहां इस प्रमाण के कारण आज उसे ही अत्यधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। आज हर दृष्टि से, शिक्षा से, साहित्य से, पत्रकारिता से, विज्ञापन से, मनोरंजन-माध्यमों से—

नारी का एक ऐसा रूप उभारा जा रहा है कि जो यौन-सुख के माध्यम से ही स्वयं को पहचानता है और अपनी सार्थकता सिद्ध करती है। मानो जीवन का मात्र यही उद्देश्य हो। यह मनोविज्ञान का सदुपयोग नहीं, दुरुपयोग है। नारी-जीवन की सुरक्षा और समाज में उच्छृंखलता इसीसे बढ़ी है। मनोरोग और मनोविकृतियों की बढ़ती संख्या के पीछे भी यह एक ठोस कारण है। बेट्टी फ्राइडन के इन विचारों को पढ़ने के बाद 'नारी-मुक्ति आन्दोलन' की सदस्यों द्वारा असुविधाजनक भीतरी वस्त्रों और फैशन-भूषाओं की होली जलाने तथा फैशन-परेडों और सौन्दर्य-प्रतियोगिताओं के बहिष्कार करने की बात सहज ही समझ में आ सकती है।

बेट्टी फ्राइडन का जन्म ४ फरवरी, १९२१ को पियोरिया, इलीनोस (अमेरिका) में हुआ। पियोरिया स्टेट स्कूलों में शिक्षा लेने के बाद वे स्मिथ यूनिवर्सिटी से स्नातक बनीं। फिर महान गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिक कुर्त कोपल्का की शिष्या बन इस क्षेत्र में अध्ययन करती रहीं। मनोविज्ञान में आगे अध्ययन के लिए यूनिवर्सिटी आफ कैलीफोर्निया से शोधवृत्ति पा बार्कले में शोधकार्य में संलग्न रहीं। इसके बाद यूनिवर्सिटी आफ लोवा द्वारा 'ग्रुप डाइनेमिक्स' में किए गए प्रारम्भिक प्रयोगों में योग देने के बाद उन्होंने क्लीनिक मनोवैज्ञानिक के रूप में भी काम किया। विवाह और तीन बच्चों के बाद जब भीतर के प्रश्न ने बहुत झिझोड़ा तब वे पत्रकारिता की ओर मुड़ीं और व्यावहारिक सामाजिक शोध-अध्ययनों में संलग्न हो गईं। 'गुड हाउस कीपिंग', 'रेडबुक', 'रीडर्स डाइजेस्ट' और अन्य अनेक पत्र-पत्रिकाओं में लिखती रहीं।

भारत में श्रीमती गांधी के प्रधानमन्त्री बनने पर वे 'लेडीज़ होम जर्नल' की ओर से श्रीमती इंदिरा गांधी का इंटरव्यू लेने यहां आई थीं। प्रधानमन्त्रित्व ग्रहण करने के बाद श्रीमती गांधी के पहले भारत दौरे में वे उनके साथ रहीं, घूमीं और यह पता लगाने का प्रयत्न करती रहीं कि वे कौन-से तथ्य हैं जिनके कारण एक अपेक्षाकृत पिछड़े देश की नारी प्रधानमन्त्री के पद को सुशोभित कर सकती है? और अमेरिका में यह क्योंकर सम्भव नहीं हुआ? उनके इस भारत-दौरे का विवरण और श्रीमती गांधी से इंटरव्यू एक विस्तृत लेख के रूप में 'लेडीहोम जर्नल' के मई, १९६६ के अंक में प्रकाशित हुआ था। श्रीमती गांधी के निकट सम्पर्क में कुछ समय बिताने तथा उनके निजी स्टाफ से मिलने के बाद उन्होंने जो अपने मौलिक निष्कर्ष लिखे हैं उनमें से एक बात इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। श्रीमती गांधी व फीरोज़ गांधी के सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए बेट्टी फ्राइडन ने लिखा है, "श्री फिरोज़ गांधी यह कभी सहन नहीं

कर सके कि उन्हें अपनी पत्नी और श्वसुर (इंदिरा और जवाहरलाल नेहरू) के नाम से जोड़कर जाना जाए, जबकि उनकी अपनी प्रतिभा और स्वतंत्र चेतना उनके व्यक्तित्व को निर्धारित करती थी। इसका मतलब यह है कि नारी के सार्वजनिक व्यक्तित्व का उसके घरेलू व्यक्तित्व से हर जगह टकराव होता है।" फिर भी श्रीमती गांधी जी की देन भारतीय नारी को एक बहुत ऊंचा स्थान दे गई है। ऐसा उन्होंने अपने लेख में स्वीकार किया है।

वेट्टी फ्राइडन ने जन-शिक्षण के क्षेत्र में भी उपयोगी कार्य किया है। 'कम्युनिटी रिसोर्सेज पूल' की योजना उनके दिमाग की उपज है, जिसकी वे डायरेक्टर हैं। यह भी अपने ढंग का एक नया प्रयोग है जिसे अनेक कलाकारों, लेखकों, वैज्ञानिकों-मनोवैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों, राजनेताओं और स्टेट-स्कूलों के योग्य विद्यार्थियों का सहयोग प्राप्त है। न्यूयार्क फाउंडेशन से अनुदान प्राप्त करके इस परियोजना ने अब राष्ट्रीय स्वरूप धारण कर सभीका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया है। पर अधिक प्रसिद्धि उन्हें 'द फेमिनिन मिस्टिक' से ही प्राप्त हुई है।

'द फेमिनिन मिस्टिक' एक आक्रोश-भरी पुस्तक है जिसमें कड़वी सच्चाइयां हैं। इन सच्चाइयों को कोई पचाए या नहीं, पर पढ़कर उनसे इन्कार नहीं कर सकता। यही कारण था कि पुस्तक प्रकाशित होते ही प्रशंसा और विरोध की भरपूर प्रतिक्रियाओं से चर्चित हो वर्ष की 'वेस्ट सेलर' बन गई। पेपरबैक में १२५००० और हार्डकवर में ७०००० प्रतियां हाथोंहाथ बिक गईं। संसार की तेरह भाषाओं में उसके अनुवाद हो गए। इस विवादास्पद पुस्तक को लेकर स्थान-स्थान पर आयोजित अनेक कार्यक्रमों में वेट्टी फ्राइडन को विरोध और सम्मान दोनों का सामना करना पड़ा। कई स्पष्टीकरण देने पड़े। ऐसे ही एक इंटरव्यू में जब उनसे विनोद में पूछा गया कि इस पुस्तक के विचारों से सहमति प्रकट करने पर पत्नियों को सिवाय अपने के अन्य किसी चीज़ से हाथ नहीं धोना पड़ेगा तो प्रश्न को काटते हुए उनका उत्तर था, "नहीं, उन्हें केवल घर के झाड़ू से ही हाथ धोना पड़ेगा।" पर यह कटु सत्य आगे जाकर स्वयं उनके अपने पति के साथ संबंध-विच्छेद में प्रकट हुआ। लेकिन अपनी पुत्री के साथ अलग रहते हुए भी, अपनी सार्वजनिक व्यस्तता के कारण तथा अन्य व्यापक प्रश्नों से जुड़े होने पर, उन्हें पहले जैसे अकेलापन, बोरियत व निरर्थकता का अहसास कभी नहीं हुआ।

वेट्टी फ्राइडन लिखती हैं, "मेरे निष्कर्ष महिलाओं को 'डिस्टर्ब' कर सकते हैं, विशेषज्ञों को दुविधा में डाल सकते हैं पर यदि उन्हें अपने तक सीमित रखती

तो इस सारे श्रम का कोई अर्थ ही न रह जाता। महिलाएं समाज से जिस तरह प्रभावित होती हैं, उसी तरह समाज को प्रभावित भी करती हैं। इसीलिए इस बे-नाम और अनुत्तरित प्रश्न को नाम दिया जाना चाहिए; इसका उत्तर खोजा जाना चाहिए। यह पुस्तक तो केवल भूमिका है। समाजशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों और नारी-विषयों के विशेषज्ञों को आगे इसपर बहुत काम करना है।" पर अगले काम के लिए महिलाओं को सम्बोधित करते हुए उन्होंने पुस्तक के अन्त में 'ए न्यू प्लान फार वीमेन' (महिलाओं के लिए नई योजना) नाम का अध्याय लिख दिया है। इस योजना को युक्ति-युक्त ठहराने के लिए भी अनेक 'केस हिस्ट्रियों' के प्रमाण जुटाए गए हैं।

'नारी-मुक्ति-आन्दोलन' की मांगें पूरी हों, न हों; अनेक पूर्वाग्रहों और भ्रमगत रूढ़ियों का जाल छिन्न-भिन्न कर वर्तमान समाज को एक झटका देने का श्रेय तो बेट्टी फ्राइडन को है ही। ऐसी क्रांतिकारी पुस्तकों और उनपर आधारित आन्दोलनों के दूरगामी प्रभाव से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। स्वयं उनके अनुसार, "मैं सोचती हूं, अब जो युवा पीढ़ी आएगी, उसके सामने नारी का रहस्य नहीं रहेगा। वह पीढ़ी स्त्रियों को पूर्ण व्यक्ति के रूप में देखेगी। पुरुषों और बच्चों से संबंध तोड़ने की अतिवादी धारा का मैं कदापि समर्थन नहीं कर सकती। नारी को लेकर मुझे एक गहरी जिम्मेदारी दीखती है पर इस ज़िम्मेदारी का अर्थ उसके निजी व्यक्तित्व की अमान्यता व अवमानना नहीं हो, इतना ही हम चाहती हैं—बस।"

महान् नीग्रो गायिका

मेरियन एण्डरसन

'माई लार्ड, ह्वाट ए मार्निंग।'—यह किसी गीत की पंक्ति नहीं, मेरियन एण्डरसन की आत्मकथा का शीर्षक है। ऐसा ही संगीतमय, रागमय, लय और ताल से पूरित है उनका समूचा जीवन।

लगातार गाते-गाते गला दुखने लगने से जैसे स्वर भारी हो जाए और थकन से कुछ दर्द उभरने लगे, वैसा नहीं, ढेर-सी प्रशंसाओं के बीच में भी कुछ गलत दाद मिलने लगे, कुछ हूटिंग होने लगे तो गायक के स्वर में जैसे गहरा दर्द उभर आता है, ठीक वैसा ही दर्द है उस संगीतमय जीवन में। और वह इसलिए है कि यह गायिका एक महान गायिका होते हुए भी श्वेत नहीं, नीग्रो गायिका है।

टोसकानिनी के शब्दों में "ऐसी आवाज़ सैकड़ों वर्षों में एक बार सामने आती है।" और जब वह सभी बाधाओं को पारकर सामने आ गई तो फिर कोई बाधा

न रही। मान्यता वर्षों बाद जाकर मिली, हारवर्ड यूनीवर्सिटी से आनरेरी

डाक्टरेट भी, लेकिन एक नीग्रो सिंगर को यूरोप-भर में वह सम्मान प्रथम बार मिली थी, इसलिए इसका महत्त्व बहुत अधिक था। फिर तो उसकी अपनी जन्म-भूमि को इस आवाज़ से लगभग वंचित होना पड़ा। मेरियन एण्डरसन की मांग इतनी बढ़ी कि लगातार मैक्सिको, दक्षिणी अमेरिका, यूरोप, रूस और पूर्वीय देशों के दौरे शुरू हो गए। आर्थिक स्थिति सुधरते ही दौरों में वाद्य, ड्रेसें, सहायक, मैनेजर आदि ले जाने की समस्या भी सुलझा ली गई। स्थानीय विविध रुचियों के अनुरूप गीतों की तैयारी तो थी ही, पर एक विशेष तैयारी का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। वह तैयारी थी—व्यक्तित्व की, जिसे जाति-द्वेष से उत्पन्न क्रोध से बचाकर एक दार्शनिक धैर्य से गढ़ना था। मेरियन एण्डरसन ने इस यथार्थ की कड़वाहट को शिव के गरल की तरह कंठ के नीचे उतारकर आत्मसात् कर लिया था। घृणा और क्रोध का स्थान करुणा और मार्मिकता ने ले लिया था। जातीय अपमान के दर्द को संगीत के स्वर का दर्द बना लिया गया था। और बस, सफलता सामने थी।

सहज, प्रभावशाली, गहरा व्यक्तित्व और ऐसी ही आवाज। मेरियन एण्ड-रसन एकसाथ दो दुनियाओं में जीतीं। एक, संगीत व प्रसिद्धि की रंगीन दुनिया, दूसरी, प्रेममय दाम्पत्य जीवन की सीधी-सादी घरेलू दुनिया। वहुत कम लोग जानते और मानते हैं कि एक प्रसिद्ध गायिका का घरेलू जीवन इतना सुखी व संतुष्ट हो सकता है। पर यह दुहरी सफलता मेरियन के सधे हुए संतुलित व्यक्तित्व का ही सहज परिणाम है। 'वीमेंस होम कम्पेनियन' पत्रिका में मेरियन की जो आत्मकथा धारावाहिक छपती रही थी, उससे उनके संघर्ष, यातना और और अभावमय जीवन की भट्टी में अनवरत तपकर सोने-सी खरी उतरने का, दूसरे शब्दों में उनके व्यक्तित्व की साधना का पूरा आभास मिलता है। ऐसी साधना जो किसी भी क्षेत्र में सफलता के लिए आवश्यक है।

अपनी आत्मकथा में वे लिखती हैं, "बड़े लोगों के अनुसार मेरा बचपन अभावों में बीता। पर मेरी दृष्टि से, अभी की मेरी दृष्टि से भी देखे तो उसमें मेरी ज़रूरतों और आकांक्षाओं के लिए सब कुछ था। जैसे मेरे पिता के न रहने पर घर में उनका एक फोटो न होना सबको खलता था, पर मेरे दिल में उनकी हंसती हुई प्रेरक तसवीर इतनी साफ थी कि फोटो की जरूरत ही न थी।" क्या यह दृष्टि किसी भी व्यक्ति को जीवन में ऊंचा उठाने के लिए पर्याप्त नहीं है ?"

मेरियन का जन्म फिलाडेलफिया में १६०८ में हुआ। बचपन गरीबी

में बीता। पिता चर्च की अवैतनिक सेवा में स्पेशल अफसर के रूप में नियुक्त थे।

हर रविवार को बालिका मेरियन भी उनके साथ चर्च जाती थी। ६ साल की उम्र से ही वह चर्च में कभी-कभी गाने लगी थी। पर पिता की नाराज़ी का ध्यान कर चर्च में गाने का ख्याल छोड़ देना पड़ा। अब वह घर में मां और बहन के साथ मिलकर परंपरागत लोकगीत गाने लगी और स्कूल में गायन-टोली की अगुआ बनने लगी। गीत का अर्थ समझे बिना झूमकर गाती और गर्व से आवाज़ को ऊंचा उठाकर गाती। झुकाव देखकर पिता पसीजे और उन्होंने मेरियन को एक पिआनो ले दी। पिआनो घर में आते ही वह घुटनों के बल पर ऐसे बैठकर उसे बजाने लगी जैसे कि अभी बजा ही लेगी। बैठने की वह मुद्रा उसने चर्च में देखी थी। फिर एक दिन लांड्री के कपड़ों की बास्केट लिए जा रही थी कि एक घर में किसी महिला को पिआनो बजाते देख रुक गई। झांककर देखा, महिला श्वेत नहीं, काली थी और पिआनो बड़ी खूबसूरती से बजा रही थी। बस, खुशी से उछल पड़ी, 'यह काली होकर बजा सकती है तो मैं क्यों नहीं।' घर आकर मां को बताया। मां ने चेतावनी दी, 'भूलो मत कि तुम नीग्रो हो। सफलता कठिन है।' पर मेरियन को तो उस महिला से प्रेरणा ही नहीं, दिशा भी मिल चुकी थी।

मेरियन की लगन और घर की आर्थिक स्थिति देखकर पिता ने भी स्वीकृति दे दी। फिलाडेलफिया चर्च के संडे-स्कूल में थोड़ा शुल्क ले-देकर गायन आरंभ हो गया। आय बहुत मामूली थी फिर भी चार डालर जमा होते ही उसने वायलिन खरीद ली। वायलिन खरीदने गई तो दुकानदार ने दूकान में घुसने की इजाज़त नहीं दी। मेरियन को दूर से उसे पसंद कर लेना पड़ा। भावी गायिका को पहला आघात लगा। अब दूसरा प्रश्न सामने आया कि सिखाए कौन ? फीस के लिए पैसे नहीं। परिवार के एक मित्र ने सहायता की। बुआ चर्च में गाती थीं उनसे भी मदद मिली। वायलिन पर पकड़ मज़बूत हो चली। एक दिन बाज़ार गई तो एक पैम्फ्लेट हाथ लगा। उस पैम्फ्लेट पर अपनी तसवीर देख नन्हीं मेरियन ठगी-सी रह गई। लिखा था, 'आइए और दस-वर्षीया बेबी कन्ट्रालटो का संगीत सुनिए।' उत्साह और उत्तेजना के मारे मेरियन डबलरोटी की जगह आलू खरीद-कर घर आ गई। मां ने कहा तो बोली, "मां, मैं तो आठ वर्ष की हूं और यह देखो इन्होंने मेरी तसवीर के साथ दस-वर्षीया बेबी लिख दिया है।" मां भी देखकर गद्‌गद हो गई। अब एक ड्रेस भी खरीद ली गई और मेरियन चर्च की जूनियर गायक मण्डली की एक हीरोइन के रूप में सामने आ गई। किशोरावस्था तक आते-आते तो उसकी मांग दूसरे चर्चों में भी होने लगी थी।

संगीत से बेहद प्यार होने पर भी उस समय मेरियन के लिए गायन का

महत्त्व गायन-प्रतिभा या आवाज़ को निखारने के लिए नहीं, परिवार को आर्थिक सहायता पहुंचाने के लिए था। पिता नहीं रहे थे। मां लांड्री में काम करने लगी थी, और मेरियन गाने का। इसीसे परिवार का खर्च चलता था। खर्च की तंगी होने पर उसने छोटे-मोटे व्यावसायिक आयोजन भी शुरू कर दिए थे। फिर एक दिन न्यूयार्क में एक प्रतियोगिता में शामिल हुई। न पूरा प्रशिक्षण था, न पूरी तैयारी। खूब आलोचना हुई। इस असफलता के धक्के ने उसे चेताया, 'पूरी तैयारी करो, फिर सामने आओ।' और वह जी-जान से साधना में जुट गई। इसके बाद की कहानी तो संघर्ष और सफलता की मिली-जुली कहानी है।

मेरियन सार्वजनिक गायन में झिझकती-शर्माती नहीं थी। संगीत से उसे प्रेम था। उसका संस्कारग्रस्त नीग्रो-मानस प्रशंसा का भूखा था। आगे बढ़ने के लिए बेताब था। पर अधूरी तैयारी ने उसके आगे प्रश्नचिह्न लगा दिया था। वह और-और सीखने के लिए छटपटाने लगी। हाईस्कूल में थी, तभी बैले-नृत्य का अभ्यास करने लगी। फिलाडेलफिया म्युज़िक अकादमी के शो देखने लगी। कभी नीग्रो अभिनेता, अभिनेत्रियों की नाटक-मण्डलियां देखने चली जाती। फिर एक दिन 'मेट्रोपोलिटन ओपेरा' में भी पहुंच गई। हाथ में चार डालर थे। टिकट छः डालर वाले ही बचे थे। निराश लौट आई। बाद में प्रयत्न कर वहां अभिनय का अवसर भी पाया लेकिन अभिनय को नहीं, गायन को ही मान्यता मिली। इससे कैरियर स्पष्ट हो गया। यह भी स्पष्ट हो गया कि सामूहिक गान के बजाय उसे अकेले गायन में अधिक सफलता मिलेगी।

फिलाडेलफिया के प्रसिद्ध गायक श्री हेइज़ जर्मन, फ्रेंच, इटेलियन के प्राचीन गीत गाते थे। लोग उनपर मुग्ध थे पर गीत उन्हें समझ में न आते थे। एक बार श्री हेइज़ के कार्यक्रम में लोगों ने आवाज़ें लगाईं, "मेरियन गाए तो कुछ समझ में आए" मेरियन को मंच पर आना पड़ा। इसके बाद गायक हेइज़ ने भी उसमें रुचि ली। उन्हींकी सलाह से मेरियन का व्यावसायिक प्रशिक्षण शुरू हुआ। मेरी सैंडर्स पीटरसन प्रथम गायन शिक्षिका नियुक्त हुईं। लेकिन मेरियन तब तक इतना गा चुकी थी कि संगीत की शास्त्रीय शैली से प्रारंभ करने में कठिनाई आई। कई गुरु बदले गए, लेकिन आगे चलकर मेरियन ने अपनी आवाज़ और इस शास्त्रीय प्रशिक्षण का अच्छा सामंजस्य कर अपनी राह बना ली। मेरियन की मांग जिस तरह बढ़ रही थी, उसे देखते हुए कई व्यक्ति सहायता के लिए आगे आए। हर रविवार को चर्च में भी उसके लिए चंदा कर शास्त्रीय गायन और पिआनो सीखने के लिए तथा ड्रेसें व अन्य साधन खरीदने के लिए प्रबंध कर दिया

गया। संगीत-आयोजन बढ़ते गए। आवाज़ का जादू लोगों को मंत्रमुग्ध करता

गया और मेरियन की मांग बढ़ती गई। एक दिन मिस्टर युंग ने मेरियन की मां से कहा, "यकीन करो या नहीं, एक समय आएगा, यह लड़की एक सांध्य समारोह में गायन से ५० डालर कमाएगी।" कुछ वर्ष बाद यह भविष्यवाणी ही सत्य सिद्ध नहीं हुई, मेरियन की फीस इस अनुमान से भी कई गुना बढ़ गई। देश-विदेश में उनका यश फैल गया। कीर्ति और समृद्धि ने साधना के आगे घुटने टेक दिए।

व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए मेरियन को किसी स्कूल में प्रवेश नहीं मिला था। रंगीन व्यक्ति को प्रवेश नहीं दिया जा सकता था। वे लिखती हैं, "अब परिस्थितियां बदल गई हैं। पर मुझे अपना व्यक्तिगत खेद प्रकट करने का अधिकार है। अभी भी ठंडी आह भरकर कहती हूं, काश! मैं स्कूल जा सकती!··· अपनी संगीत-यात्राओं में भी उन्हें 'जिम क्रो कार' की हवा, रोशनी की दृष्टि से अस्वास्थ्कर स्थिति में जाना पड़ता था। ऐसे अनुभवों का दोहराव उन्हें जीवन-भर सहना पड़ा। फिर भी, "लोग कहते हैं, मैं यूरोप में जाकर क्यों नहीं बसती, जहां नीग्रो से अलग मेरी कलाकार की मान्यता है। मेरे कई साथी देश छोड़कर चले भी गए हैं, पर मैं ऐसा नहीं सोचती। मैं अमेरिकन थी, हूं और रहूंगी।"

इसी आत्मविश्वास की एक और झलक, "इस माने में सौभाग्यशालिनीहूं कि मैं तेज़ी से बदलते समय में हुई और घूम-घूमकर मैंने इस परिवर्तन को आंखों से देखा। इसीसे भविष्य के संसार, जिसमें मेरा देश भी शामिल है, के प्रति आशान्वित हूं।"

मेरियन एण्डरसन का यह आत्मविश्वास ही उनकी आवाज़ का जादू बन सारे संसार पर छा गया है। एक महान गायिका के रूप में उनका नाम अमर है, कलापारखी ऐसा मानते हैं।

प्रथम महिला अन्तरिक्ष-यात्री

वेलेन्तिना तेरेश्कोवा

१६ जून, १९६३। एक आश्चर्यजनक समाचार ने सारे संसार को चौंका दिया। एक महिला की सफल अन्तरिक्ष उड़ान—उड़ान ही नहीं, २० लाख किलोमीटर की अन्तरिक्ष-यात्रा में समूची पृथ्वी की कई बार परिक्रमा। और परिक्रमा से गुज़रते हुए एक संदेश—"कृपया मेरी मां को बताएं कि मैं अपना काम बिलकुल ठीक कर रही हूं। उन्हें बताएं कि अपनी मातृभूमि के लिए कुछ भी करने को तैयार हूं। वे मेरी चिन्ता न करें। अगर कुछ करना चाहती हैं तो केवल मेरी सफलता की कामना ही करें।"

यह उड़ान भरने वाली और अन्तरिक्ष से अपनी मां और देशवासियों के नाम संदेश भेजने वाली थीं, एक रूसी युवती वेलेन्तिना तेरेश्कोवा—'विश्व की प्रथम महिला अन्तरिक्ष-यात्री।'

उनकी सफलता का समाचार विश्व-भर की महिलाओं में हर्ष और गर्व की

एक लहर दौड़ा गया। अफ्रीका, एशिया, यूरोप, आस्ट्रेलिया, उत्तर और लैटिन अमेरिका—सभी महाद्वीपों के छोटे और बड़े देशों से वेलेन्तिना को उपहार और

बधाई-संदेश भेजे गए। एक महिला की इस अभूतपूर्व ऐतिहासिक विजय पर प्राय: सभी महिला-संगठनों ने विजयोत्सव मनाया। देखते-देखते एक दिन में एक नाम चमका और जन-जन की जिह्वा का प्यार पा गया। विश्व-भर के युवक-युवतियों, स्त्रियों, वैज्ञानिकों, नेताओं की ओर से इतना स्नेह, इतनी प्रशंसा उन्हें मिली कि वे भीग उठीं।

इस विजय के अवसर पर 'वीमेंस इंटरनेशनल डेमोक्रेटिक फेडरेशन' की अध्यक्षा श्रीमती युजीन काटन ने कहा, "वेलेन्तिना तेरेश्कोवा की इस ऐतिहासिक अंतरिक्ष-यात्रा ने सिद्ध कर दिया है कि आज स्त्रियां निर्माण के हर क्षेत्र में भाग लेने की क्षमता रखती हैं।"

प्रथम अन्तरिक्ष-यात्री श्री यूरी गगारिन ने कहा, "मैं इस अद्भुत लड़की के संपर्क में केवल एक वर्ष से आया हूं किन्तु लगता है कि हम जैसे बचपन से एक-दूसरे को जानते हैं। यह अन्तरिक्ष-यात्रियों के विभाग में इस तरह आई जैसे उस परिवार की एक सदस्या हो—बिना किसी भी प्रकार की बनावट या रहस्यमयता के। यहां की परंपराओं में घुलमिल जाने के लिए कृत-संकल्प और उनमें अपना योग प्रदान करने को उत्सुक। पुरुषोचित साहस के साथ इसमें एक छुपा हुआ स्त्रियोचित सौन्दर्य भी है। मधुर मुस्कान, करुणामयी आंखें, सुगठित व्यक्तित्व, लक्ष्य पर दृष्टि, काम के प्रति लगन और ईमानदारी—सभी गुण इसमें विद्यमान हैं। पर एक अन्तरिक्ष-यात्री के लिए इतना ही काफी नहीं है। साहस के साथ सहनशीलता भी चाहिए तथा सूक्ष्म तकनीकी ज्ञान और योग्यता भी। वेलेन्तिना में मैंने इन सभी चीज़ों को पाया है। कठिन से कठिन प्रशिक्षण और परीक्षणों में यह अविचल, अडिग और सुस्थिर रही है।"

अमेरिका में भी इस घटना की व्यापक प्रतिक्रिया हुई। रूस की महिला अन्तरिक्ष-यात्री की इस सफल अन्तरिक्ष-यात्रा ने वहां यह सवाल पैदा कर दिया कि अमेरिका के अंतरिक्ष-कार्यक्रम में महिलाओं को स्थान क्यों नहीं दिया जाता। ए० पी० के एक समाचार के अनुसार जैक्लीन कोचारन, मैडम ओरियल जैसी प्रमुख वायुयान-चालकों ने तथा कई सिनेटरों ने इस बात के लिए 'नेशनल ऐरोनौटिक्स एंड स्पेस एडमिनिस्ट्रेशन' की कड़ी आलोचना की कि वह अपनी परियोजनाओं में महिलाओं का योग नहीं ले रहा है। एक महिला सिनेटर श्रीमती मार्गरेट चेस स्मिथ ने कहा कि यह घटना सिद्ध करती है कि रूस में महिलाओं को कितना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा रहा है।

महिला अंतरिक्ष-यात्री वेलेन्तिना तेरेश्कोवा की यात्रा ने यह प्रमाणित कर दिया कि महिलाएं भी पुरुषों के समान कठिनाइयों का सामना करने में सक्षम हैं। तेरेश्कोवा अंतरिक्ष में तीन दिन रहीं और उन्होंने पृथ्वी के अनेक चक्कर लगाए। उनकी यह उड़ान पावेल पोपोविच की उड़ान से एक घण्टा अधिक थी। तीन साल, दो माह पहले १२ अप्रैल, १९६१ को अंतरिक्ष-यात्री यूरी गगारिन ने अपनी पहली उड़ान भरी थी। तब से अब तक कुल दस यात्री अंतरिक्ष में जा चुके थे। वेलेन्तिना इनमें से सात यात्रियों से अधिक समय अंतरिक्ष में रही थी।

एक अन्तरिक्ष-यात्री का प्रशिक्षण सचमुच बहुत कठिन व विचलित कर देने वाला होता है। साइलेंस चेंबर के 'कास्मिक टेस्ट' में अद्वितीय सफलता पाने के बाद वेलेन्तिना को जब ताप चेंम्बर की कठिन अग्नि-परीक्षा में भेजा गया तो सभीको आशंका थी कि यहां शायद उनका धीरज जवाब दे जाए। अंतरिक्ष-यात्री इसे 'शैतान की भट्टी' कहते हैं। किन्तु सबको देखकर एक सुखद आश्चर्य हुआ कि वेलेन्तिना उसमें बैठकर भी शांन्ति से एक पुस्तक पढ़ती रहीं। साहस के साथ यह उनकी अद्भुत सहनशक्ति और तीव्र इच्छाशक्ति का भी प्रमाण था। अधिकारियों को उनकी विजय का विश्वास हो गया। वेलेन्तिना एक साधारण युवती होकर भी असाधारण हैं, उन्हें उनकी इच्छापूर्ति के लिए ही नहीं, देश-हित में भी अन्तरिक्ष-यात्रा का अवसर दिया जाना चाहिए, ऐसा उन्हें लगा। और अवसर दिए जाने पर वेलेन्तिना ने उनके विश्वास व अपेक्षाओं को फलीभूत करके दिखा भी दिया। अंतरिक्ष-यान वोस्टोक ६ की ये सफल उड़ाका अंतरिक्ष-विज्ञान में अपना अग्रणी स्थान रखती हैं।

वाल्या (वेलेन्तिना तेरेश्कोवा का घरेलू प्यार का नाम) का जन्म ६ मार्च, १९३७ को मेसलेनिकोव गांव के एक किसान परिवार में हुआ। पिता गांव के सर्वोत्तम ट्रैक्टर-ड्राइवर थे और अनेक हस्तगत उद्योगों के ज्ञाता। द्वितीय महा-युद्ध में जब उनकी मृत्यु हुई तब वाल्या केवल चार वर्ष की थी। मां नें ही पाला-पोसा और पढ़ाया। मां व बड़ी बहन दोनों एक कपड़े की मिल में काम करती थीं। वाल्या की प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा में इस मिल के कर्मचारियों और वाई० सी० एल० स्कूल ने काफी सहायता दी। वेलेन्तिना पढ़ती थी और घर के काम में अपनी कामकाजी मां व बहन की भी सहायता करती थी। फिर १७ वर्ष की अल्पआयु में ही उसने भी एक टायर-फैक्टरी में काम करना शुरू कर दिया कि अपनी अगली शिक्षा स्वयं अपने पैरों पर खड़ी होकर पूरी कर सके। दिन में फैक्टरी में काम करती थी और शाम को स्कूल व खेल-कूद में भाग लेती थी। 'स्कूल फार यंग वर्कर्स' से स्नातक होने के बाद उसने पत्र-व्यवहार पाठ्यक्रम द्वारा

अपने उद्योग-विशेष का प्रशिक्षण लिया। फिर १९६० में सूती कपड़ों की बुनाई तकनीक में डिप्लोमा लेकर अपना शिक्षण समाप्त किया।

इसके बाद 'कोस्मोल आर्गनाइज़ेशन आफ मिल्स' की सेक्रेटरी के रूप में वेलेन्तिना का चुनाव हो गया। यहां वे युवा कर्मचारियों की नेत्री थीं और सभी में खूब लोकप्रिय। वहां के लोग अभी भी उनका नाम बड़े प्रेम व आदर से लेते हैं। खेल और संगीत वेलेन्तिना की दो प्रमुख रुचियां थीं जिनके लिए वे किसी न किसी प्रकार समय निकाल ही लेती थीं। खेलों के साथ उन्हें विमान-चालन और छाता-कूद में भी विशेष रुचि थी। उन्होंने न केवल छाता-कूद का प्रशिक्षण लेकर अपना शौक पूरा किया, १२६ सफल कूदों का रिकार्ड कायम करके इस विषय के विलेपज्ञों की प्रथम श्रेणी में आ गईं। वेलेन्तिना के शब्दों में, "मुझे संगीत व छाता-कूद बहुत पसंद है। जब यान से नीचे कूदती हूं तो हवा मेरे कानों में संगीत की तरह गूंजती है। मैं उस समय खुशी से भर उठती हूं। जब मैंने प्रथम अंतरिक्ष-यात्री यूरी गगारिन के बारे में पढ़ा, सुना तो मेरे मन में बचपन में सुनी कहानी के अनुसार 'उड़नखटोले' पर बैठकर उड़ने की तीव्र इच्छा जागरित हुई और मैंने अपनी इस इच्छा को क्रियान्वित करने की ठान ली।"

वेलेन्तिना का स्वप्न सत्य हुआ। उनकी प्रार्थना पर वे अंतरिक्ष-यात्रियों के एक डिटैचमेंट में भरती कर ली गईं। यह उनकी इच्छाशक्ति, संकल्पशक्ति और योग्यता के परीक्षण का समय था। यहां की सभी कठिन परीक्षाओं से गुज़र-कर ही वे अपने उड़नखटोले वाले स्वप्न को पूरा कर सकती थीं। इसलिए-उन्होंने साधना द्वारा अपनी शक्तियों का इतना विकास किया कि एक-एक कर सभी परीक्षणों से वे हंस-हंसकर पार होती गईं। और अन्त में आया वह दिन जब उनका स्वप्न साकार हो गया। वेलेन्तिना अंतरिक्ष में भेज दी गईं।

वेलेन्तिना के अंतरिक्ष में जाने से दो दिन पहले रूस का पांचवां अंतरिक्ष-यात्री कर्नल वेलेरी १८ जून को 'वोस्तोक-५' पर अंतरिक्ष-यात्रा के लिए रवाना हुआ था। वेलेन्तिना रूस की छठी यात्री थीं, संसार की दसवीं, और महिला के नाते पहली। वेलेन्तिना को भेजने का उद्देश्य यह जानना था कि पुरुष और नारी की शारीरिक रचना में अन्तर होने के कारण क्या अंतरिक्ष में भी उसपर कुछ अलग तरह का प्रभाव पड़ेगा ? दो दिन बाद जब वेलेन्तिना अंतरिक्ष में पहुंची तो उनके जहाज़ का सम्बन्ध पूर्व-यात्री वेलेरी के जहाज़ से बराबर बना रहा। यह पहला अवसर था जबकि अंतरिक्ष में धरती के दो प्राणी एक साथ चक्कर लगा रहे थे—एक पुरुष और एक महिला। पहले प्रयोग में हर तरह का

खतरा या जोखिम उठाने की संभावना को स्वीकार कर ही वे १९५९ से इसके लिए प्रशिक्षण ले रही थीं। इतनी तैयारी, इतना धैर्य और इतनी कुशलता ! सफलता निश्चित ही थी।

अपनी अंतरिक्ष-उड़ान की हर परिक्रमा पर यान से ही वे सभीकी बधाइयां और शुभकामनाएं स्वीकार कर रही थीं और बदले में संसार को शांति व सह-अस्तित्व का संदेश देती जा रही थीं। वेलेरी ने पृथ्वी की ८१ परिक्रमाएं कीं, वेलेन्तिना ने ४९। टेलीविज़न पर दोनों की पूरी यात्रा मास्को में दिखाई जा रही थी। प्रत्येक बार वेलेन्तिना के गुज़रते समय लोग उनकी विजय पर 'सी-गाल'…'सी-गाल' (प्यार से उन्हें दिया हुआ नाम) कहकर हर्ष-विभोर हो, तालियां बजाने लगते।

विजय के तुरन्त बाद उन्हें 'वर्ल्ड वीमेंस कांग्रेस', मास्को की 'आनरेरी डेली-गेट' चुन लिया गया। २४-२९ जून, १९६३ को मास्को में 'वर्ल्ड कांग्रेस आफ वीमेन' में भारत की ओर से श्रीमती इंदिरा गांधी ने उन्हें हार्दिक बधाई दी थी। जुलाई, १९६८ में उन्हें सोवियत वीमेन कमेटी की अध्यक्षा निर्वाचित किया गया।

१० नवंबर को अपने पति के साथ भारत आने पर भी उनका खूब सोल्लास स्वागत किया गया। श्री नेहरू ने बड़े प्यार से दोनों को आशीर्वाद दिया। तब तक वे कुमारी से श्रीमती बन चुकी थीं। एक वर्ष पूर्व ११ अगस्त' १९६२ के अंतरिक्ष यात्री मेजर एण्ड्रियन निकोलायेव से ३ नवंबर, १९६३ को वेलेन्तिना का विवाह हो गया था ; उनकी पहली भारत-यात्रा से कुछ ही दिन पूर्व। यह विवाह रूस में बड़े धूमधाम से सम्पन्न हुआ था। सारा प्रबंध सरकार की ओर से किया गया था और प्रधान मंत्री श्री ख्रूश्चेव तथा अन्य बड़े-बड़े नेता उसमें सम्मिलित हुए थे।

२५ जनवरी, १९७४ को भारत सरकार तथा 'भारतीय राष्ट्रीय महिला फेडरेशन' के निमंत्रण पर वे दोबारा भारत आई थीं। उस समय पत्रकारों के प्रश्नों का उत्तर देते हुए उन्होंने हंसकर कहा, "मैं कोई शोकेस में रखने योग्य चीज़ नहीं हूं। अभी भी अंतरिक्ष-यात्रा करने की क्षमता रखती हूं। मुझे इंतज़ार है, अगली अंतरिक्ष-यात्रा का। पर पता नहीं मेरा यह सपना कब पूरा होगा।" यह सच है कि इतने वर्षों के बाद भी वे ही एक मात्र महिला अंतरिक्ष-यात्री हैं पर उन्हें आशा है कि 'स्पेस सेंटर' में जो महिलाएं प्रशिक्षण ले रही हैं, वे ही नहीं, एक दिन चंद्र-यात्रा में भी महिलाएं भाग लेंगी व सफल होंगी। श्रीमती वेलेन्तिना तेरेश्कोवा अब एक पुत्री की मां हैं व घर-गृहस्थी के साथ अनेक समाज-

सेवी व महिला संस्थाओं में सक्रिय हैं।

अंतरिक्ष-यात्रा में यद्यपि संसार के जो पुरुष उनसे पहले जा चुके थे, पर हर यात्री अपने पूर्ववर्ती यात्री से अधिक जोखिम उठाता है क्योंकि हर वार उसे कुछ नया ज्ञान प्राप्त करना होता है। इस नाते, तथा यह जोखिम उठाने वाली संसार की पहली महिला होने के नाते, वेलेन्तिना तेरेश्कोवा का काम असाधारण रूप से सराहनीय है। इतिहास में उनका नाम अमर हो गया—अमर रहेगा।

भारत की एक सशक्त आवाज़

विजयलक्ष्मी पंडित

सन् १९४४ की एक अविस्मरणीय घटना :

द्वितीय विश्वयुद्ध बंद हो चुका था। जापान एटम बम के प्रहार से आत्मसमर्पण कर चुका था और हिटलर, मुसोलिनी का भी पतन हो गया था। मित्रराष्ट्रों की विजयिनी सेनाएं जर्मनी और इटली में प्रवेश कर चुकी थीं। अंग्रेज़ विजय की खुशियां मना रहे थे। तभी सेनफ्रांसिस्को (अमेरिका) में 'संयुक्त राष्ट्र संघ' की स्थापना पर विचार करने के लिए स्वतंत्र राष्ट्रों की एक सभा बुलाई गई। देश के सभी प्रमुख नेता—महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, डा० राजेन्द्रप्रसाद आदि—जेलों में बंद थे। भारत के प्रतिनिधि के रूप में अंग्रेज़ों द्वारा मनोनीत तीन व्यक्ति— सर फीरोज़खां नून, सर रामास्वामी अय्यर और सर गिरिजाशंकर वाजपेयी सभा में भाग लेने सेनफ्रांसिस्को पहुंचे।

विजयलक्ष्मी पंडित का खून खौल उठा, 'ये कथित प्रतिनिधि' जो ब्रिटिश

शासकों द्वारा नामज़द हैं, स्वतंत्र राष्ट्रों की सभा में भारत की स्वाधीनता के लिए आवाज़ उठा सकेंगे? क्या किया जाए? पति रणजीत पंडित की हाल ही में मृत्यु हुई थी। श्रीमती पंडित का हृदय उनके वियोग और श्वसुर-परिवार के व्यवहार से संतप्त था। पर देश का प्रश्न सामने था। स्वाधीनता की मांग प्रस्तुत करने का इससे अधिक अच्छा अवसर और कौन-सा हो सकता था! क्या करें? कैसे वहां पहुंचें! ब्रिटिश अधिकारी पासपोर्ट नहीं देंगे।

आखिर उन्होंने एक तरकीब ढूंढ़ निकाली। उनकी दो पुत्रियां उस समय अमेरिका में पढ़ रही थीं। उन्हें देखने के बहाने जल्दी में पासपोर्ट प्राप्त किया और बिना विशेष तैयारी के उड़कर वहां पहुंच गईं। शीघ्रता में पूरे कपड़े भी नहीं ले जा सकीं। तब साड़ी वहां सुलभ न थी। गाउनों को काट-जोड़कर किनारी लगाकर उन्हें ही साड़ी के रूप में पहन काम चला लिया गया। एक तो आकर्षक प्रभावशाली महिला और ओजस्वी वक्ता, उसपर श्री जवाहरलाल नेहरू की बहन, जहां भी सभा में उनका भाषण होता भीड़ उमड़ पड़ती। अमेरिका की स्वतंत्र भूमि में उनपर कोई प्रतिबंध नहीं लगा सकता था। सभा-भवन के बाहर जगह-जगह सभाएं करके उन्होंने घोषित किया कि भारत का प्रतिनिधित्व स्वतंत्र भारत के लोग ही कर सकते हैं, अंग्रेज़ों के नामज़द प्रतिनिधि नहीं। सभी समाचारपत्रों में श्रीमती पंडित के चित्र और भाषण मोटे-मोटे शीर्षकों में छपे। एक तहलका मच गया, पर चर्चिल सरकार चाहकर भी वहां उन्हें गिरफ्तार नहीं कर सकती थी। कांफ्रेंस वाले दिन अंग्रेज़ों के दमनकारी कारनामों और भारत की मांगों की एक विस्तृत तालिका छपवाकर वहां पधारे सभी देशों के प्रतिनिधियों को दी गई। फिर एक परिवर्तन आया। श्रीमती पंडित अभी अमेरिका में ही थीं कि इंग्लैंड में टोरी सरकार का पतन हो गया और लार्ड एटली के नेतृत्व में मज़दूरदलीय सरकार सत्तारूढ़ हो गई। इसके बाद भारत में सारे नेता जेल से रिहा कर दिए गए तो वे भी भारत लौटने के लिए स्वतंत्र हो गईं।

ऐसी अनेक घटनाओं और सफलताओं का एक मिला-जुला नाम है, विजयलक्ष्मी पंडित।

सन् १९४७ में भारत स्वतंत्र हुआ तो श्रीमती पंडित राजदूत बनाकर रूस भेजी गईं। इस पद पर वे भारत की ही नहीं विश्व की भी प्रथम महिला थीं। डेढ़-दो वर्ष वहां रहने के बाद वापिस आकर १९४९ से १९५२ तक फिर अमेरिका में भारतीय राजदूत की हैसियत से रहीं। समय-समय पर संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत का योग्य प्रतिनिधित्व भी करती रहीं। वहां अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व से उन्होंने प्रतिनिधियों को इतना प्रभावित किया कि वे भारत और श्री नेहरू की विदेशनीति

के प्रशंसक हो गए। फलस्वरूप श्रीमती पंडित १९५३ में संयुक्त राष्ट्र संघ

महासभा की अध्यक्षा चुन ली गईं। इस पद पर भी उन्हें भारत की ओर 'विश्व की प्रथम महिला' कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ। एक वर्ष के अपने कार्यकाल में विश्व की इस सर्वोच्च संस्था के अध्यक्षपद को कुशलता से संभालकर उन्होंने अपने देश और देशवासियों का मस्तक ऊंचा किया। अमेरिका के बाद इंगलैंड में भी वे राजदूत के रूप में रहीं। विश्व के तीनों बड़े देशों में भारत का कूटकीतिक प्रतिनिधित्व कोई कम गौरव की बात नहीं है।

श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित भारत की अग्रिम पंक्ति की ऐसी महिला हैं जिन्होंने एक साथ कई क्षेत्रों में पहल की है। वे भारत की प्रथम महिला मंत्री भी हैं। स्वतंत्रता-संग्राम में निरन्तर भाग लेने के बाद १९३७ में जब पहली बार राज्यों में कांग्रेसी मंत्रिमण्डल बने तो श्रीमती पंडित स्थानीय प्रशासन और जनस्वास्थ्य मंत्री के नाते संयुक्त प्रांत (आज के उत्तर प्रदेश) के मंत्रिमंडल में सम्मिलित हुईं। तब मंत्री के रूप में वे देश की सर्वप्रथम महिला थीं। भारत के इतिहास में यह एक सर्वथा नवीन घटना थी जिसने भविष्य के लिए भी मार्ग खोल दिया।

देश के स्वतंत्रता-संग्राम में गांधी जी की जिन-जिन प्रिय शिष्याओं ने आगे बढ़कर सक्रिय भाग लिया था, उनमें श्रीमती सरोजिनी नायडू और विजयलक्ष्मी पंडित के नाम ही सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त हैं। पंचायत राज बिल प्रस्तुत करने का श्रेय भी उन्हें ही है। भारतीय और विदेशी विश्वविद्यालयों से जितनी (पंद्रह) आनरेरी डिग्रियां आपको प्रदान की गई हैं, उतनी शायद ही किसी अन्य महिला को दी गई हों। एक और रोचक तथ्य भी कि सन् १९६६ में ब्रिटेन के एक प्रमुख समाचारपत्र ने संसार के हर कोने में फैले अपने पाठकों के वोट से जब 'विश्व की सर्वाधिक आकर्षक महिला' का चुनाव किया तो कलात्मक और सुरुचिपूर्ण वेशभूषा वाले नारी-व्यक्तित्व में भी उन्हीं का नाम सर्वप्रथम रहा।

श्रीमती पंडित की सुरुचि का परिचय उनकी वेशभूषा, बातचीत, रहन-सहन, कार्य-प्रणाली सभीसे मिलता है। उत्तरप्रदेश में मंत्रीपद सभालते ही सबसे पहला काम उन्होंने अपने कार्यालय के सज्जा-परिवर्तन का किया था। प्रतिदिन कमरे की सफाई-व्यवस्था, सज्जा, फूलसज्जा आदि का निरीक्षण करके वे कार्य आरंभ करती थीं। उनके दूतावासों में भी ऐसी ही सुरुचिपूर्ण व्यवस्था रही।

श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित का व्यक्तित्व भी ऐसा ही प्रभावशाली है। उनके बचपन का नाम स्वरूपकुमारी है। कृष्णा हठीसिंह (छोटी बहन) अपनी आत्मकथा में लिखती हैं, "मेरी बहन स्वरूप बहुत ही सुंदर थी। उसे सब प्यार करते थे।

मैंने भी यह मान लिया था कि जो इतना सुंदर हो उसे सबका लाड़-प्यार मिलना

ही चाहिए। इसलिए मुझे उनसे कभी ईर्ष्या नहीं हुई थी। मैं भी उन्हें बहुत ज्यादा चाहती थी।" सन् १९०० में जब उनका जन्म हुआ तो जवाहरलाल जी ग्यारह वर्ष के थे। श्री नेहरू ने भी अपनी आत्मकथा में लिखा है, "स्वरूप के पैदा होने से मुझे बड़ी खुशी हुई कि मुझे भैया कहने वाली एक प्यारी-सी बहन हो गई।" स्वरूप सुंदर भी थी ; चपल भी थी। चार-पांच वर्ष की उम्र में ही फर्राटे से बात करती हुई भाई के साथ घुड़सवारी करने लगी थी। इसी उम्र में १९०४ में पिता के साथ यूरोप घूम आई थी। फिर दोबारा १९२६ में पति और भाई के साथ गई। इसके बाद तो विजयलक्ष्मी का जीवन एक अन्तर्राष्ट्रीय जीवन ही कहा जा सकता है।

श्री नेहरू की तरह स्वरूपकुमारी का पालन-पोषण, शिक्षण और रहन-सहन भी पाश्चात्य ढंग पर हुआ। १९१९ में उनका विवाह एक गुजराती विद्वान श्री रणजीत पण्डित से हुआ। विवाह के बाद वे स्वरूपकुमारी नेहरू से विजयलक्ष्मी पंण्डित कहलाईं। श्री पण्डित आज़ादी की लड़ाई में उनके साथ थे। सन् बयालीस के 'भारत छोड़ो' आंदोलन से कुछ समय बाद उनका निधन हो गया। तीन लड़कियों के पालन-पोषण का भार विजयलक्ष्मी पर आ पड़ा। भारतीय उत्तराधिकार कानून में नारी के लिए सम्पत्ति में हिस्से की कोई व्यवस्था न थी और पुत्र उनके कोई था नहीं। एक तो पति-वियोग का दुःख, दूसरे रूढ़िवादी, नारी-विरोधी भारतीय कानूनों के प्रति आक्रोश। विजयलक्ष्मी क्षोभ से भर उठीं। फिर तो उनके भीतर की देशभक्त और विद्रोहिणी नारी देश की आज़ादी के साथ भारतीय नारी को इन क्रूर, निकम्मे कानूनों के चंगुल से बचाने के लिए भी कमर कसकर तैयार हो गई। कांग्रेस के अलावा अनेक महिला संस्थाओं और समाज-कल्याण संस्थाओं से संबद्ध रहकर भारतीय नारी की स्थिति और सामाजिक नीतियों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिए भी वे निरन्तर काम करती रहीं। 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' के साथ तो वे प्रारम्भ से ही थीं और सन् १९४०'४२ में दो वर्ष तक इस सर्वोच्च महिला-संस्था की अध्यक्षा भी रह चुकी थीं।

गांधी जी से उनकी पहली भेंट १९१९ में हुई थी। तब से जब तक गांधीजी जिन्दा रहे, वे उनके निकट रहीं। बापू से वे इतनी अधिक प्रभावित थीं कि कई बातों में मतभेद के बावजूद उनके निर्देश के बिना कोई कदम नहीं उठाती थीं। पुलिस जब आनंदभवन पर छापे मारती थी, जबरन जुर्माने वसूलती थी या सम्मानित व्यक्तियों का अपमान करती थी तो स्वभावानुसार विजयलक्ष्मी क्रोध से भर

उठती थीं पर गांधी जी के निर्देश का ध्यान कर सब कुछ धर्य व शांति से सहन कर लेती थीं। असहयोग आंदोलन के दिनों पिता, भाई (पं० मोतीलाल और जवाहरलाल नेहरू) के जेल जाने पर आनंद भवन के, जोकि कांग्रेस का गढ़ था, संचालन का भार उनके कंधों पर ही आ पड़ा था। नमक-सत्याग्रह के दिनों उन्होंने अपनी छोटी बहन और पुत्रियों को साथ लेकर विदेशी माल की दुकानों पर धरने दिए। जलूसों का नेतृत्व किया। इस तरह १९३२, १९४१ व १९४२में तीन बार जेल गईं। १९४२-'४४ की जेल से रिहाई के शीघ्र बाद सेनफ्रांसिस्को वाली घटना से तो उन्होंने सारे संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया था।

सन् १९४६ में उत्तरप्रदेश में दोबारा मंत्रीपद संभालने और रूस, अमेरिका में राजदूत रहने के बाद सन् १९५२ के प्रथम आम चुनाव में वे लखनऊ से लोक-सभा के लिए निर्वाचित हुईं। १९५४ तक संसद्-सदस्या के रूप में काम करने के बाद फिर इंगलैंड में उच्चायुक्त पद पर तथा लौटकर महाराष्ट्र की राज्यपाल के पद पर नियुक्त हुईं। महाराष्ट्र की राज्यपाल रहते हुए भी एक बार फिर उन्हें भारतीय प्रतिनिधिमण्डल की नेत्री बनाकर संयुक्त राष्ट्रसंघ में भेजा गया। राष्ट्र-संघ में उनके ओजस्वी भाषणों की याद आज भी देशवासियों के मन में ताज़ा है।

श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित अब ७४ वर्ष की आयु प्राप्त कर चुकी हैं पर उनकी चुस्ती, जागरूकता, बौद्धिक क्षमता और कर्मठता आज भी हर किसीके लिए ईर्ष्या की वस्तु हो सकती है। प्रधान मंत्री श्री नेहरू के बाद सक्रिय राजनीति में आने के लिए वे महाराष्ट्र के राज्यपाल का पद त्याग उसी रिक्त चुनाव क्षेत्र (फूलपुर) से चुनकर पुनः संसद् में आ गई थीं। पर इधर के वर्षों में देश की स्थितियों-प्रवृत्तियों में आया परिवर्तन देख उनके मन को कहीं गहरी ठेस लगी मालूम देती है। उन्हें बार-बार लगा कि इस आज़ादी के लिए उनके पूरे परिवार और हज़ारों-लाखों देशवासियों ने अपने जीवन न्योछावर नहीं किए थे। अतः एक लंबे मानसिक संघर्ष के पश्चात् लोकसभा की सदस्यता से त्यागपत्र देकर आजकल विदेश में विश्राम कर रही हैं। पर कभी न विश्राम लेने वाला उनका चिंतक मन और कर्मठ व्यक्तित्व कब फिर सक्रिय हो उठे, कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उम्र से हार मानने वाली वे नहीं हैं। कुछ ही वर्ष पहले ब्रिटेन के उच्चा-युक्त पद से अवकाश ग्रहण करने पर बी० बी० सी० के इंटरव्यू में दिए गए प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा था, "मैं शांतिपूर्ण जीवन बिताना चाहती हूं, पर रिटायर्ड जीवन नहीं।"

विजयलक्ष्मी पंडित की गणना विश्व की कुछ गिनी-चुनी लोकप्रिय महिलाओं में की जाती है।

विश्व की पहली महिला प्रधानमंत्री

सिरिमावो बंडारनायके

२१ जुलाई, १९६० का एक ऐतिहासिक दिन। विश्व की पहली महिला प्रधानमंत्री पद की शपथ ग्रहण कर रही थी। एक बौद्ध पुरोहित ने धर्मग्रंथ में से एक अंश पढ़कर सुनाया : "पहले प्रश्न, 'एक अल्प बुद्धि की महिला कहीं राज्य-कार्य संभाल सकती है ?' फिर उत्तर, 'क्यों नहीं। यदि आप ईमानदार और प्रतिभासम्पन्न हैं और किसी बात के अच्छे-बुरे हर पहलू की पहचान रखती हैं तो फिर स्त्रीत्व कोई बाधा नहीं है। कोई भी ऐसा कार्य नहीं, जो एक महिला महिला होने के नाते नहीं कर सकती।' और श्रीमती सिरिमावो बंडारनायके ने ये शर्तें पूरी कर दिखाईं।

पिछड़े कहे जाने वाले एशिया महाद्वीप के एक छोटे-से देश श्रीलंका की एक घरेलू-सी, साधारण-सी दिखाई देने वाली नारी और यह असाधारण पद, मान और गौरव। एक दिन में एक नाम चमका और विश्व महिला-इतिहास

में शीर्षस्थान पर जा बैठा। स्वतंत्र, उदार, उन्नत और समृद्ध माने जाने वाले यूरोपीय देशों की स्त्रियों ने देखा और देखती रह गईं। पहले तो वे चमत्कृत हुईं फिर भीतर ही भीतर कसमसाईं, 'एक पिछड़े देश की स्त्री हमसे आगे?' ...और फिर अगले अधिकारों के लिए उठती हुई आवाज़ें और आवाज़ें...

श्रीमती बंडारनायके को इन आवाज़ों से कोई मतलब न था। वे इस दिशा में नेतृत्व का झंडा संभालने के लिए आगे नहीं आई थीं। पति की असामयिक मृत्यु के बाद अनजाने ही उनपर जो दायित्व आ पड़ा था, उसे संभालने की सामर्थ्य रखते हुए वे उससे पीछे कैसे हटतीं? विरोधी तत्त्वों द्वारा पति की हत्या से उत्पन्न उथल-पुथल की विचलित करने वाली स्थितियों में उनके लिए राजकार्य संभालना कोई आसान बात न थी। पर यह एक चुनौती थी, जिसका सामना करना उनका कर्तव्य था। राजनीतिक क्षेत्र में स्तरीय पदों द्वारा उनका कोई क्रमशः प्रशिक्षण नहीं हुआ था फिर भी इस साहसी नारी ने दृढ़ता से इस चुनौती का सामना किया और पूरे आत्मविश्वास के साथ इस गुरुतर दायित्व को संभालने के लिए प्रस्तुत हो गईं। शंकालुओं को उनका उत्तर था, "यद्यपि एक राजनीतिज्ञ के रूप में अलग से मेरा प्रशिक्षण नहीं हुआ है पर भूलिए नहीं कि पति के साथ बीस वर्षों तक मैंने राजनीति और प्रशासन का जो स्वयं प्रशिक्षण लिया है, वह उससे किसी भी रूप में कम नहीं है। अब तो उस प्रशिक्षण का परीक्षण ही होना है। हां, वैसा अनुभव मुझे नहीं है, जैसा वे सोचते हैं और वह मेरे लिए आवश्यक भी नहीं है।" इससे पता चलता है कि इससे पूर्व राजनीति से पृथक् रहकर भी वे किस प्रकार उसकी विद्यार्थिनी बनी रहीं। राजनीति और प्रशासन-संबंधी समस्याओं के पूर्व अध्ययन से ही वे इतनी समर्थ बन सकी थीं कि नई-नई उत्पन्न समस्याओं का साहस से सामना और समाधान करती चली गईं।

एक बार एक पत्रकार ने जब उनसे पूछा कि विश्व की पहली और अकेली महिला प्रधानमंत्री होने के नाते वे क्या सोचती हैं तो उनका उत्तर था, "यों इस भेदभाव या पूर्णधारणा की दृष्टि से सोचना गलत है। फिर भी यदि उत्तर चाहें तो मैं कहूंगी कि एक महिला की नैतिक शक्ति पुरुष से कहीं अधिक है। शायद इसलिए एक पुरुष प्रधानमंत्री की अपेक्षा मुझे अधिक जनसहयोग मिला है।"

श्रीमती सिरिमावो बंडारनायके सजग मन, दृढ़ इच्छाशक्ति और असाधारण सूझ-बूझ वाली महिला हैं। राष्ट्रीय ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का भी उन्हें अच्छा अध्ययन है। भारत-चीन झगड़े को सुलझाने में सक्रिय भाग लेकर

तो उन्होंने समस्त विश्व का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। सन्

१९६२ में पहले उन्होंने कोलम्बो में छः तटस्थ राष्ट्रों की कांफ्रेंस बुलाई, फिर कांग्रेस के निर्णय से भारत व चीन को अवगत कराने के उद्देश्य से स्वयं दोनों देशों की यात्रा कर दोनों प्रधानमंत्रियों से भेंट की। इस दृष्टि के एक छोटे-से देश की प्रतिनिधि होकर भी उन्होंने एशिया के तटस्थ राष्ट्रों के नेतृत्व का गौरव प्राप्त किया। पर इस छोटे-से देश की अपनी एक ऐतिहासिक भूमिका है। 'दिनमान' के अनुसार—"शायद यह बात बहुत कम लोग जानते हैं कि एशिया का एक बहुत छोटा देश होने के बावजूद श्रीलंका ने एशियाई देशों को मतदान पेटी द्वारा शासन-संस्थापन का मार्ग दिखाया था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व ही लंकावासी १९३१, १९३६ तथा १९४७ के तीन चुनावों में मतदान कर चुके थे। और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद उनके यहां चुनावों में भाग लेने वाली जनता का प्रतिशत भारत के प्रतिशत से अधिक था, क्योंकि मताधिकार के लंबे प्रशिक्षण से लंका वासी अपने अधिकारों कर्तव्यों के प्रति उत्तरोत्तर सचेत होते गए हैं और राजनीतिक अस्थिरता के बावजूद वहां शोर कम सुनाई देता है तो इसका कारण है कि वहां अनेक छोटे-मोटे दल होते हुए भी चुनाव मुख्यतः दो दलों—श्रीलंका फ्रीडम पार्टी और युनाइटेड नेशनल पार्टी—के बीच ही होता है।" श्री बंडारनायके की हत्या के पश्चात् नये नेता के चुनाव के लिए मार्च व जुलाई में दो बार संघर्ष हुआ और दूसरे चुनाव में श्रीमती बंडारनायके श्रीलंका फ्रीडम पार्टी की नेता के रूप में विजयी हुईं।

उनकी यह विजय ही असाधारण नहीं थी, राजकार्य में और पार्टी-नेतृत्व में भी उन्होंने असाधारण योग्यता का परिचय दिया था। पर ३ दिसंबर, १९६४ को उनके साथ 'घर का भेदी लंका ढाए' वाली कहावत चरितार्थ हुई और अपने ही कुछ सहयोगियों के विश्वासघात से बंडारनायके सरकार केवल एक वोट से पराजित हो गई। विधि का विधान था कि उनके कई समर्थक सदस्य उस दिन एकसाथ बाधाओं से घिर गए और समय पर वोट देने न पहुंच सके अन्यथा उन्हें एक वोट से पराजय का मुंह न देखना पड़ता। पर जो होना था वह हो गया और श्रीमती बंडारनायके ने उसी नीतिमत्ता से अपने मंत्रिमंडल की हार स्वीकार कर ली, जो वास्तव में परिस्थिति की ही मार थी, उनकी हार नहीं।

१९६५ के चुनावों में हारने के पश्चात् उन्होंने पक्ष-संगठन का कार्य जिस तत्परता से हाथ में लिया उसे देख उनके उत्साही व आशावादी दृष्टिकोण की सभी ने सराहना की। ग्राम-ग्राम में संगठन-निर्माण करके रचनात्मक कार्यों की

बुनियाद उन्होंने जन-जन के हृदय में बैठा दी। उनके नेतृत्व में यह संगठन कुछ लोगों की पार्टी न रहकर जनमत का व्यापक संगठन बन गया। संयोग की बात है कि १९६५ में विरोधी पक्ष की नेता के रूप में भी वे संसार की प्रथम महिला ही थीं।

फिर "भरपेट भोजन के लिए दो माप चावल देने वाली श्रीमती सिरिमावो आ रही हैं" लोकप्रियता की इस गूंज ने श्रीमती बंडारनायके को १९७० में श्रीलंका में हुए नये चुनावों में भारी बहुमत से पुनः विजय दिलाई। श्रीलंका फ्रीडम पार्टी के नेतृत्व में संयुक्त विधायक दल ने दो-तिहाई स्थान जीत लिए।

श्रीमती बंडारनायके ने सदा अपने विपक्षियों की संकुचित नीति के विरुद्ध उदार नीति से काम लिया। उन्होंने घोषित किया, "सरकारी संबंधों, स्थानों और नौकरियों में किसीके साथ धर्म, जाति, वंश या वर्ण के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाएगा" और अपनी इस उदारता का परिचय उन्होंने नये मंत्रिमण्डल के गठन में दे भी दिया। एक तमिलभाषी, एक मुस्लिम, एक डचवंशीय वर्गर तथा कुछ ईसाइयों को भी मंत्रिमंडल में स्थान दिया, पर यह प्रतिनिधित्व धर्म, मत या किसी पक्ष पर आधारित न हो, व्यक्तिगत योग्यता और पार्टी-नीतियों के प्रति आस्था पर आधारित था। उनके प्रतिद्वन्द्वियों ने उनपर साम्यवादियों के हाथ का खिलौना बन जाने का लांछन लगाया और यह अफवाह उड़ाई कि ट्रिंकोमाली बंदरगाह को वे चीनियों के हाथ बेच देंगी। परन्तु चुनाव के समय इन सभी आक्षेपों का उत्तर देते हुए उन्होंने साम्यवादियों को स्पष्ट चेतावनी दी कि या तो वे श्रीलंका फ्रीडम पार्टी के झंडे के नीचे चुनाव लड़ सकते हैं या फिर स्वतन्त्र रूप से खड़े हो सकते हैं। और स्वतन्त्र चुनाव लड़ने वाला एकाकी साम्यवादी हार गया। वे ही विजयी हुए जिन्होंने श्रीमती बंडारनायके के नेतृत्व में चुनाव लड़ा।

चुनाव के बाद उनकी नई सरकार ने एक के बाद एक जो क्रांतिकारी निर्णय लिए उनसे भी उनके कुशल राजनीतिज्ञ और योग्य प्रशासक होने के अच्छे संकेत मिले हैं। समाजवाद लाने के लिए कृतसंकल्प हो उठाए गए कदमों के अलावा भारत और ब्रिटेन के समकक्ष प्रेस-कौंसिल का गठन और श्रीलंका का नया संविधान बनाने का निर्णय उनमें से प्रमुख है। इस निर्णय के अनुसार २२ मई, १९७२ को श्रीलंका ब्रिटिश राजसत्ता से अपना १५७ वर्ष पुराना संबंध तोड़कर सर्वप्रभुत्वसंपन्न गणराज्य बन गया।

अपने देश की इस ऐतिहासिक उपलब्धि के साथ श्रीमती बंडारनायके

ग्रंतराष्ट्रीय मंच पर भी खूब सक्रिय रहती हैं। १६६१ ग्रौर १६६४ में लंदन में, १९७१ में सिंगापुर में ग्रौर १६७३ में ओटावा में आयोजित राष्ट्रमंडलीय प्रधानमन्त्री सम्मेलनों में उन्होंने अपने देश का नेतृत्व किया। १९६१ में वेलग्रेड में, १९७० में जाम्बिया में, १९७३ में ग्रल्जीयर्स में गुटनिरपेक्ष देशों के सम्मेलन में वे सीलोन प्रतिनिधिमंडल की नेता थीं। १९६२ ग्रौर १९६४ में हुए गुट-निरपेक्ष देशों के सम्मेलनों की तो वे ग्रायोजिका ही थीं। इसके ग्रलावा अनेक देशों की राजकीय यात्राएं भी उन्होंने की हैं। १९७१ में श्रीमती बंडारनायके ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की २६वीं महासभा को संबोधित कर हिंदमहासागर को शांति-क्षेत्र घोषित करने का प्रस्ताव रखा।

भारत-श्रीलंका के प्राचीन काल से चले ग्रा रहे ऐतिहासिक संबंधों को सुदृढ़ करने के लिए श्रीमती बंडारनायके कई बार भारत ग्रा चुकी हैं। दोनों देशों के बीच ग्रार्थिक, सांस्कृतिक संबंधों के लिए उठाए गए कदमों में १९६४ में भारतीय मूल के लंकावासियों के भविष्य को लेकर किया गया महत्त्वपूर्ण समझौता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री ग्रौर सिरिमावो बंडारनायके के बीच हुग्रा यह समझौता सिरिमावो-शास्त्री समझौता नाम से प्रसिद्ध है। २८ जून, १९७४ को उन्होंने कच्चा टीवू द्वीप के बारे में भी भारत से एक समझौता किया। सन् १९७४ में जनवरी व नवम्बर में वे दो बार भारत ग्राईं। जनवरी में ८ दिन की राजकीय यात्रा पर ग्राने के समय २५ जनवरी को ऐतिहासिक लाल किले में उनका सार्वजनिक नागरिक ग्रभिनंदन किया गया।

श्रीमती सिरमावो बंड़ारनायके का जन्म १७ ग्रप्रैल, १९१६ को रत्नपुर ज़िले के वेलैनगौंडा नामक स्थान में एक समृद्ध कंडायन परिवार में हुग्रा। रत्नपुर के रातेमहात्माया की वह सबसे बड़ी लड़की हैं। प्रारंभिक शिक्षा रत्नपुर के फरग्यूसन हाई स्कूल में हुई। फिर सेंट ब्रिगेट्स कानवेंट, कोलम्बो में। एक सुविधासम्पन्न सम्मानित परिवार की सदस्या होने के नाते ग्रच्छी शिक्षा के साथ ग्रन्य सांस्कृतिक, सामाजिक गतिविधियों में भाग लेने का ग्रवसर भी उन्हें मिला। पियानो बजाने ग्रौर टेनिस खेलने की विशेष शौकीन रहीं। साथ ही समाजसेवा की लगन भी उनमें विद्यार्थी-काल से ही थी, जिसे क्रियान्वित करने के ग्रवसर भी उन्हें मिले। १९४० में उनका विवाह एस० डब्लू० ग्रार० डी० बंडारनायके के साथ हुग्रा, जो उस समय स्वास्थ्यमंत्री थे।

प्रधानमंत्री बनने से पूर्व एक मंत्री व प्रधानमंत्री की पत्नी के नाते उन्होंने पति के राजनीतिक कैरियर में बहुत सहायता पहुंचाई। इसी बीच उनका स्वयं

का प्रशिक्षण भी चलता रहा। लंकाद्वीप के महात्त्वपूर्ण व सम्मानित व्यक्तियों में उनकी गिनती थी ही, श्रीलंका महिला समितियों की क्रमशः कोषाध्यक्ष, उपाध्यक्ष व अध्यक्ष भी रहीं, जिससे देश की महिलाओं की ऊपर उठाने में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। १९५९ में पति की हत्या के बाद सर्वसम्मति से उन्हें श्रीलंका फ्रीडम पार्टी की अध्यक्ष चुना गया। इस प्रकार समृद्ध परिवार में जन्म लेने तथा समाज की एक सम्मानित व अग्रणी सदस्या के नाते यद्यपि उनका महत्त्व असाधारण था, आज भी है, पर रहन-सहन, स्वभाव व विचारों से उनमें एक साधारण नारी, मां व पत्नी के सभी गुण पाए जाते हैं। उन्हें देखकर कोई नहीं कह सकता कि वे एक साधारण घरेलू किस्म की नारी से भिन्न किसी असाधारण योग्यता व सामर्थ्य से संपन्न हैं।

सामाजिक-राजनीतिक व्यस्तताओं के बावजूद श्रीमती बंडारनायके मां के कर्तव्यों के प्रति निरन्तर जागरूक रहीं। वे दो लड़कियों और एक लड़के की मां हैं। प्रधानमंत्रित्व-काल में भी बच्चों की देखरेख में स्वयं गहरी रुचि लेती रहीं। उनकी स्कूल की पोशाकें स्वयं तैयार करती थीं। उनका कहना है कि सभी माताओं को अपने बच्चों का काम स्वयं देखना चाहिए। बच्चों के चरित्र-निर्माण पर भी उनका विशेष ज़ोर है। अपने बच्चों को शैक्षिणक मूल्य की फिल्मों के अलावा सभी फिल्में देखने की आज्ञा उन्होंने नहीं दी। स्वयं धार्मिक वृत्ति की महिला हैं और 'सादा जीवन, उच्च विचार' के सिद्धान्त में विश्वास रखती हैं। अधिकांश समर्पित बौद्धों का-सा समर्पित व पवित्र जीवन बिताती हैं और शाकाहारी हैं।

सफेद झक्क साड़ी और उजला व्यक्तित्व। आशावादी, उत्साही, साहसी, व्यवस्थित और संतुलित। संभवतः इसीलिए सिरिमावो प्रौढ़ावस्था में भी चुस्त और जवान लगती हैं। जनता की शक्ति में उनका विश्वास है और पिछड़े जनों से सहानुभूति। हर किसीसे अपनेपन व स्पष्टता से पेश आती हैं। उनके संपर्क में आनेवाला एकबारगी उनके सादे किन्तु प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। अक्सर लोग उच्च पद के साथ सादगी व विनम्रता के इस विरोधाभास को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते, पर सादगी में ही सम्मान का मूलमंत्र छिपा है, यह उनका विश्वास है। अपने अनुयायियों से भी वे यही चाहती हैं।

अपनी भारत-यात्रा के दौरान एक बार बंगलौर की एक महिला-सभा में बोलते हुए उन्होंने कहा था, "मुझे आशा है, जब श्री नेहरू रिटायर होंगे, भारत भी प्रधानमंत्री के रूप में किसी महिला को अवश्य चुनेगा।" उनकी दूरदर्शी

दृष्टि ने एशियाई देशों; विशेष रूप से भारत में इस संभावना को तभी देख लिया था। भारत की महिलाओं ने इन्हें व इन्होंने भारतीय महिलाओं को सदा निकट-मित्र के रूप में देखा है। विश्व की पहली प्रधानमंत्री बनने का गौरव प्राप्त कर उन्होंने भारत से पहले बाज़ी मार ली, पर हमें खुशी है कि उन्होंने वह राह खोली जिसपर संसार की सभी स्त्रियों को गर्व है।

एक स्वयं-निर्मित महानता

गोल्डा मेयर

इस्रायल को विश्व का सबसे अधिक लड़ाकू देश माना जाता है। ऐसे देश में दो विजेता जनरलों की उपेक्षा करके जब किसी महिला को प्रधानमंत्री पद के लिए चुना जाता है तो निश्चय ही वह ऐसा नाम होना चाहिए जिसकी महानता को चुनौती नहीं दी जा सकती। संसार की तीसरी महिला प्रधानमंत्री गोल्डा मेयर एक ऐसा ही नाम है जिसे ७६ वर्ष की आयु में भी इस्रायल जैसे हमेशा संकट से घिरे राष्ट्र की बागडोर संभालने के लिए सर्वथा उपयुक्त समझा गया।

एकदम सादा पहनावा, सीधा-सादा रहन-सहन और सौम्य मुखमुद्रा, पर चेहरा विवेकमय तेज से चमकता हुआ। बढ़ी उम्र में भी सशक्त, सुगठित और प्रभावशाली व्यक्तित्व। आत्मविश्वास और आत्मगौरव से मंडित गोल्डा अपने देश की एक विश्वसनीय कर्णधार रहीं, क्योंकि इस्रायल की स्थापना में भी उनका बहुत बड़ा हाथ रहा है। फिर गोल्डा मेयर एक स्वयं-निर्मित व्यक्तित्व हैं।

एक गरीब बढ़ई की बेटी से चलकर देश के लिए संघर्ष करते-करते वे प्रधानमंत्री पद तक पहुंचने वाली हैं। पसीने से लथपथ कारीगर पिता मारबोविच को कभी सपने में भी ख्याल न आया होगा कि उनकी बेटी आगे चलकर संसार के एक-मात्र यहूदी राज्य की स्थापना में योग देगी और उसकी प्रधानमंत्री भी बनेगी। गोल्डा मेयर की कहानी अद्भुत साहस, निरन्तर कार्य, लंबे संघर्ष और गहरी लगनशीलता की एक कहानी है। इसलिए बिना किसी भेदभाव के संसार-भर की युवतियों के लिए एक प्रेरणा भी।

गोल्डा मेयर का जन्म रूस के कीव नगर में ३ मई, १८९८ को हुआ। बढ़ई पिता की आमदनी बहुत मामूली थी। गरीबी से तंग आकर कुछ अधिक कमाई की आशा में १९०३ में वे पिंस्क नगर में आ बसे। ज़ारशाही के उस ज़माने में रूस में यहूदियों की दशा बड़ी शोचनीय थी। उन्हें कोई नागरिक अधिकार प्राप्त न थे। तरह-तरह के कानून उनके विरुद्ध बनाए जाते, उनपर अत्याचार किए जाते, उनसे घृणा की जाती और खुले आम उनकी बेइज़्ज़ती भी। शहरों में उनके निवास के लिए कुछ अलग बस्तियां नियत थीं। इनके बाहर रहने की उन्हें आज्ञा न थी। उसपर भी प्रोग्रोम नाम के गुंडों के आक्रमण उन बस्तियों पर होते रहते थे। हत्या, लूट और बलात्कार के इस खुले कार्यक्रम में पुलिस कोई बाधा नहीं डालती थी। गोल्डा मेयर अपने बचपन की स्थितियों को याद करके बताती हैं कि उनके पिता घर का दरवाज़ा बंद करके उसके पीछे मोटा तख्ता जड़कर रखते थे कि गुंडों के आक्रमण से बचा जा सके। इन स्थितियों का प्रभाव उनके बाल-मन पर बहुत गहरा पड़ा। गोल्डा अपने माता-पिता की आठ संन्तानों में से तीसरी जीवित संतान थीं। यहूदियों की उस समय की दशा का अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है।

फिर जब वे आठ वर्ष की हुईं तो अच्छे भविष्य की आशा से उनके पिता अमरीका के मिल्वूकी नगर में जा बसे। पिता वहां बढ़ईगीरी करते थे और मां परचून की छोटी-सी दुकान चलाती थीं, फिर भी गुज़र मुश्किल से ही हो पाती थी। पर अमरीका में बिताए ग्यारह वर्ष गोल्डा के लिए उपयोगी सिद्ध हुए। दस वर्ष की गोल्डा ने अमेरिकी किशोरी-भगिनी-समाज का संगठन किया। काफी चंदा इकट्ठा करके वह गरीब लड़कियों में पाठ्य पुस्तकें बांटती थी और फिल्स्तीन में आकर बसे यहूदियों को धन भेजती थी। पर अपनी पढ़ाई के लिए वह फिर भी व्यवस्था न कर पाई थी। १४ वर्ष की उम्र में माता-पिता ने गरीबी के कारण पढ़ाई बंद कर दी। गोल्डा भागकर डेनवर में अपनी बड़ी बहन शाना के घर चली गई कि अपनी शिक्षा जारी रख सकें। वहीं उनकी भेंट मारिस मायर-

सन मे हुई, जो एक रूसी यहूदी था। और उसीकी तरह ज़ारशाही अत्याचार से पीड़ित हो अमेरिका में जा बसा था। किशोरी गोल्डा पढ़-लिखकर शिक्षिका बनना चाहती थी पर फिलस्तीन को यहूदी राष्ट्र बनाने के स्वप्न ने उसके कार्य-क्षेत्र की दिशा बदल दी। वह ज़ियानवाद और समाजवाद की कैशोर्य व्याख्याएं करती, छोटी-छोटी सभाओं में भाषण देती और यहूदी संगठन में सक्रिय भाग लेती। थोड़े ही समय में वह अंग्रेज़ी तथा यिद्दिश दोनों भाषाओं में अच्छे भाषण देने लगी थी।

ऐसे समय मारिस मेयरसन जैसे समान क्रांतिकारी का साथ गोल्डा को भा गया और उन्नीस वर्षीया गोल्डा ने उनसे विवाह कर अपने जीवन का ध्येय निश्चित कर लिया। १९१७ में जब गोल्डा ने 'हेलूज' (यहूदी पायनीर) बनकर फिलस्तीन जाने का निश्चय कियातो मारिस मेयरसन उनके इस निश्चय से सहमत थे। यहूदियों का अपना स्वतन्त्र देश हो, यह सपना दोनों ने साथ-साथ देखा था। दोनों फिलस्तीन जाकर अपने देश के नवनिर्माण में हिस्सा लेंगे—विवाह के लिए भी मुख्य शर्त यही तय हुई थी। आखिर १९२१ में गोल्डा अपने पति और अन्य बीस तरुण-तरुणियों के एक दल के साथ अपने गंतव्य की ओर चल पड़ी। कठिनाइयों से भरा सफर झेलकर जब ये लोग फिलस्तीन पहुंचे तो वहां का जीवन भी बड़ा कष्टकर था। कहीं ऊसर-बीहड़ रेगिस्तानी इलाका, कहीं मक्खी-मच्छर से भरा दलदल और बेहद गर्मी। अभाव, गरीबी और कठोर श्रम। सामूहिक जीवन की जिम्मेदारी को निभाने के लिए गोल्डा मुर्गीपालन का काम करने लगीं। इसी बीहड़ इलाके को सरसब्ज़ बनाना था और यहूदी राज्य की स्थापना के स्वप्न को साकार बनाना था तो फिर कठिनाइयों से क्या डरना। अपनी योग्यता, लगन और कर्मठता से गोल्डा ने शीघ्र ही सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। एक वर्ष बाद ही वे यहूदी मज़दूर-संघ 'हिस्ट्राडुट' के लिए प्रतिनिधि चुन ली गईं। राजनीति में गोल्डा का यह पहला कदम था।

इसके बाद तो कदम बढ़ते ही गए। अपने परिवार और पति के विरोध के बावजूद गोल्डा मेयर पार्टी के काम में डूबती गईं। 'स्त्री मज़दूर कौंसिल' की मंत्री के नाते अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेने से तो उनकी ख्यति दूर-दूर फैलने लगी। 'किबुंत्ज' के कठोर जीवन को सहन न कर पाने पर उनके पति बीमार हो गए थे तो वे पति को लेकर तेलअबीब और फिर वहां से येरूशलम चली आई थीं। पर एक मज़दूर नेता के रूप में उनका व्यक्तित्व निरन्तर उभरता चला गया था। कठिन से कठिन काम करने और हर जोखिम उठाने के लिए वे सदा तैयार रहतीं। सैद्धान्तिक प्रश्नों पर उन्हें झुकाना आसान न था।

महात्मा गांधी के सत्याग्रह-सिद्धान्त पर उनकी श्रद्धा थी। १९४६ में यहूदी आव्रजकों से लदा जहाज जब इटली के एक बंदरगाह पर बंदी बना लिया गया तो गोल्डा मेयर ने इसके विरोध में अनशन कर दिया। फिलस्तीन के अनेक यहूदी इस उपवास में उनके साथ शामिल थे।

फिलस्तीन पर उस समय संयुक्त राष्ट्रसंघ की ओर से ब्रिटेन शासन कर रहा था। यहूदियों की समस्त मांगें इस सरकार के सामने गोल्डा ही रखती थीं। देश के लिए हर खतरा उठाने की उनकी एक मिसाल है : १९४९ के अरब-इस्रायली युद्ध के दौरान गोल्डा ने अरब औरत का भेस बनाया, बुरका पहना और जोर्डन पहुंच गईं। यात्रा पूरी तरह संकटों से घिरी थी। एक जगह उनका नौजवान ड्राइवर भी काम छोड़कर जान बचाकर भाग खड़ा हुआ तो गोल्डा ने अकेले ही आधी रात के समय वह सुनसान पहाड़ी रास्ता तय किया और पहरेदारों को चकमा दे सीमा पार कर ली। उद्देश्य था, जोर्डन के शाह अब्दुल्ला से बात करके उन्हें युद्ध में भाग लेने से रोकना। पर शाह ने अपने पूर्ववचन की रक्षा करने से इन्कार कर दिया और गोल्डा को किसी तरह जान बचाकर वापिस इस्रायल लौटना पड़ा। यह वचन गोल्डा ने १९४७ में उनसे लिया था। इस्रायल की स्थापना १९४८ में हुई थी। इसके शीघ्र बाद ही इस युद्ध में आत्मरक्षा के लिए यहूदियों को शस्त्रास्त्र की आवश्यकता हुई तो वे इसके लिए चंदा इकट्ठा करने अमेरिका जा पहुंची थीं और वहां से पांच करोड़ डालर के शस्त्रास्त्र लेकर इस्रायल लौटी थीं।

इस तरह के साहस-भरे अद्भुत कार्यों से गोल्डा ने सब देशवासियों का मन जीत लिया था। देश के महान नेताओं में उनकी गणना होती थी। राष्ट्र के संविधान पर हस्ताक्षर करने वालों में एक नाम उनका भी था। फिर उन्हें इस्रायली राजदूत बनाकर रूस भेज दिया गया। चालीस वर्ष पूर्व ज़ारशाही के अत्याचारों से बचने के लिए जिस निर्धन लड़की ने रूस से प्रस्थान किया था, वही अब स्वतन्त्र यहूदी राज्य की राजदूत की हैसियत से वहां पहुंची। कुछ कट्टरपंथी यहूदियों ने नारी के नाते इस पद पर उनकी नियुक्ति का विरोध किया पर देश का जागरित युवावर्ग गोल्डा मेयर की क्षमताओं पर पूरा विश्वास करता था, इसलिए उनके साथ था। दो वर्ष बाद रूस से लौटने पर गोल्डा मेयर को इस्रायल की प्रथम सरकार में श्रममंत्री का पद सौंपा गया। श्रमिक नेता पर अब देश की श्रम-नीति के संचालन का भार भी आ पड़ा था।

सारी दुनिया से प्रतिदिन हज़ारों यहूदी इस्रायल में बसने के लिए आ रहे थे। गोल्डा मेयर पर काम का पहाड़ आ पड़ा। यहूदी शरणार्थियों के पुनर्वास और

रोज़गार की समस्या हल करने के लिए उन्होंने बहुत बड़े पैमाने पर गृह-निर्माण की ग्रोर जन-कल्याण की योजनाएं बनाईं। दलदल और ऊबड़-खाबड़ जगहों में सड़कें बनाने के लिए हज़ारों-लाखों श्रमिक काम में जुट गए। देश का निर्माण हुग्रा और शरणार्थियों को काम ग्रौर पुनर्वास मिला।

१९५६ में गोल्डा मेयर को विदेशमंत्री का पद सौंपा गया। नये घरों, सड़कों, उद्योग-धंधों के निर्माण में रुचि लेने वाली गोल्डा को ग्रनिच्छा से श्रममंत्री का पद छोड़ विदेशमंत्री का दायित्व संभालना पड़ा, क्योंकि प्रधानमंत्री बेन गुरियन ग्रौर विदेशमंत्री मोशे शारेत में मतभेद हो जाने के कारण मोशे शारेत को त्यागपत्र देना पड़ा था ग्रौर बेन गुरियन को इस पद के उपयुक्त ग्रौर कोई व्यक्ति दिखाई न देता था। पर नया क्षेत्र होने पर भी विदेश मंत्रालय ग्रौर राष्ट्रसंघ में गोल्डा ने जिस कुशलता का परिचय दिया, वह उनकी ग्रध्ययन-शीलता, श्रमनिष्ठा ग्रौर लगन का प्रमाण है।

७ मार्च, १९६८ से इस वीर-धीर महिला ने चारों ओर से शत्रुग्रों से घिरे इस्रायल की बागडोर जिस मज़बूती के साथ थामी, उनकी वृद्धावस्था को देखते हुए यह एक आश्चर्यजनक घटना थी। एक सैनिक नारी वृद्ध होकर भी सैनिक ही रहेगी। देश-रक्षा के लिए चाहे जान ही क्यों न जोखिम में डालनी पड़े, बागडोर को थामते उसके हाथ कांपते नहीं। पर यह सैनिक नारी एक शांतिप्रिय नारी है, यह बहुत कम लोग जानते हैं। ग्रपने युद्धग्रस्त देश में वे हमेशा शांति चाहती रहीं, लेकिन वह शांति गौरवपूर्ण शांति होनी चाहिए। वे चाहती थीं, ग्ररब यहूदियों से झगड़ा करना छोड़ दें। जब तक मानव-मानव के बीच घृणा के बीज ग्रंकुरित होते रहेंगे, संसार में शांति ग्रसंभव है, इस तथ्य को वे बड़े दुःख के साथ महसूस करती रहीं।

इसी गौरवपूर्ण शान्ति के लिए वे निरन्तर संघर्षरत रहीं। देशभक्ति से लबा-लब हृदय रखते हुए भी वे खुले मस्तिष्क से सोचने ग्रौर विश्वशान्ति के पक्ष में कोई भी ऐसा समझौता करने के लिए तैयार रहती थीं जो इस्रायल व यहूदी जनता के लिए सम्मानजनक हो।

तीन बार ग्ररब-इस्रायल युद्ध में इस्रायल का पलड़ा भारी रहने के बावजूद ६ ग्रक्टूबर, १९७३ को प्रारंभ चौथे युद्ध में पहल मिस्र व सीरिया के हाथ रही। पर गोल्डा मेयर इससे ज़रा भी विचलित नहीं हुईं। उनके निर्णयों व ग्रादेशों से इस्रायल शीघ्र ही शक्ति-संतुलन स्थापन में सफल हो गया। फिर भी इस्रायल के लिए यह युद्ध भारी रहा। एक ग्रोर राष्ट्र की ग्रधिक धन-जन हानि, दूसरी ग्रोर ग्ररबों के तेल-संबंधी निर्णय से ग्रमेरिका सहित पश्चिमी राष्ट्रों को समझौते

के लिए दबाव, तीसरी ओर रक्षा मन्त्री जर्नल मोशे दयान के विरुद्ध जन-आंदोलन व लेबर पार्टी की ओर से जर्नल दयान को पदच्युत करने की मांग, चौथी ओर

फिलस्तीनी अरब छापामारोंकी आतंकपूर्ण गतिविधियां, इन सब कारणों से प्रधान मन्त्री गोल्डा मेयर को भारी कठिनाई का सामना करना पड़ा। फिर भी ३१ दिसंबर, १९७३ को नये चुनाव में और १० मार्च, १९७४ को सदन के विश्वास-मत में विजयी होकर उन्होंने सिद्ध कर दिया कि जनता का विश्वास अभी भी उनके नेतृत्व में था। पर वृद्धावस्था में अत्यधिक मानसिक व शारीरिक थकान और नई सरकार में अल्प बहुमत के कारण उन्होंने ११ अप्रैल, १९७४ को अपने प्रधानमंत्रित्व-पद से इस्तीफा दे दिया। २२ अप्रैल को उनकी लेबर पार्टी के ही, भूतपूर्व श्रम मन्त्री, श्री व्हिटजैक ने नये प्रधानमन्त्री की शपथ ग्रहण करते हुए भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्रीमती गोल्डा मेयर की ही नीतियों पर चलने की घोषणा कर एक बार फिर यह सिद्ध कर दिया कि 'दादी गोल्डा' के नाम से प्रिय गोल्डा मेयर की नीतियों में जनता का विश्वास अब भी कायम है, उनके अवकाश ग्रहण करने के बाद भी।

ऊंचे से ऊंचे पद पर पहुंचकर भी गोल्डा मेयर को अभिमान कहीं छू नहीं पाया। वे एक सच्ची मानव हैं, स्वयं को सारे मानव-परिवार का सदस्य समझती हैं और मानवीय आदर्शों की स्थापना के लिए बेचैन हैं। रूस के इस्रायली दूतावास में रहते समय छोटे-बड़े सभी कर्मचारी उनके साथ एक जगह बैठकर खाना खाते थे। जिन बीस तरुण-तरुणियों के दल के साथ उन्होंने इस्रायली भूमि में प्रवेश किया था, उनसे तथा उनके वंशजों से उन्होंने हमेशा पारिवारिक स्नेह-संबंध रखे। इस विशाल परिवार को वे स्वाधीन देश का निर्माता मान उसका आदर करती रहीं और उनके दुःख-सुख में निरन्तर हाथ बंटाती रहीं। इसी तरह जब भी, जहां भी उन्होंने काम किया, उस दफ्तर के सारे कर्मचारी उनके लिए परिवार के सदस्यों की तरह रहे। गोल्डा मेयर के पति का देहान्त १९५१ में हो गया था। यद्यपि वे एक बेटे और एक बेटी की मां हैं और पोते-पोतियों की दादी पर उनका परिवार यहां नहीं है। वे पूरे देश की मां हैं। लोग उन्हें प्रधानमंत्री गोल्डा नहीं, 'हमारी गोल्डा', 'मां गोल्डा', 'दादी गोल्डा' कहकर संबोधित करते। यही लोकप्रियता उनकी योग्यता को संबल देकर सफलता के मार्ग पर और-और आगे बढ़ा जाती थी।
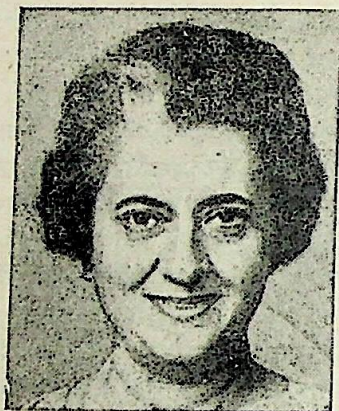
आधुनिक भारत की आत्मा

इन्दिरा गांधी

राजधानी के इतिहास में किसी महिला का सम्मान करने के लिए इतनी अधिक महिला-संस्थाएं कभी नहीं जुड़ी थीं। दिसम्बर, १९६५। नई दिल्ली स्थित सरदार पटेल भवन के प्रांगण में अखिल भारतीय स्तर की और स्थानीय तीन दर्जन से अधिक महिला-संस्थाएं और लगभग सभी प्रमुख नेत्रियां। अभिनन्दन किया जा रहा था एक ऐसी आर्कषक और अपेक्षाकृत कमउम्र महिला का जिसकी राजनीतिक व कूटनीतिक क्षमता को भारत से पहले विदेशों में पहचान लिया गया था।

रोमन अकादमी द्वारा १९७५ में ही प्रारम्भ किए 'इज़ाबेला-द-एस्तें' पुरस्कार की प्रथम सूची में कुल १४ महिलाओं का नाम था, जिन्हें कला-साहित्य, व्यवसाय, पत्रकारिता, समाजसेवा, अभिनय आदि के विभिन्न क्षेत्रों में विश्व की प्रथम महिला मानकर पुरस्कृत किया गया था। श्रीमती इंदिरा गांधी को यही

पुरस्कार सर्वाधिक कुशल कूटनीतिज्ञ महिला होने के नाते प्रदान किया गया था।

यह सभी के लिए एक सुखद आश्चर्य की बात थी। तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने हंसकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की, "इससे यह सिद्ध होता है कि कूटनीतिक क्षेत्र में महिलाएं पुरुषों से आगे हैं।" श्रीमती वायलेट अलवा ने भी अभिनन्दन-समारोह में बोलते हुए कहा था, "हमारे देश का यह दुर्भाग्य है कि हमारी प्रतिभाओं को विदेशी हमसे पहले पहचानते हैं। यह काम रोमन अकादमी से पहले भारत में संपन्न होना चाहिए था। पर हमें आशा है कि श्रीमती गांधी के महान कार्यों और सफलताओं को यहां भी शीघ्र सम्मानित किया जाएगा।"

और श्रीमती वायलेट अलवा की यह भविष्यवाणी इस घटना के केवल एक महीने बाद ही फलीभूत हो गई। श्री शास्त्री के आकस्मिक निधन से रिक्त स्थान पर उनके उत्तराधिकारी के रूप में देश ने १९ जनवरी, १९६६ को भारी बहुमत से श्रीमती गांधी को अपना नया नेता चुन लिया। २४ जनवरी, १९६६ से उनके प्रधानमंत्री बनते ही कांग्रेस, युवा पीढ़ी, महिला वर्ग और सामान्यजन में खुशी की लहर छा गई। नई आशाएं, नये सपने जगे और उनके फलितार्थ की उत्सुकता से प्रतीक्षा की जाने लगी।

विश्व की पहली महिला प्रधानमंत्री होने का गौरव यद्यपि इसके पूर्व श्री-लंका की प्रधानमंत्री श्रीमती सिरिमावो बंडारनायके को प्राप्त हो चुका था। फिर भी संसार के सबसे बड़े जनतांत्रिक देश की प्रथम महिला प्रधानमंत्री के नाते आपके गौरव और दायित्व ने संसार-भर का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। जितना बड़ा सम्मान, उतना बड़ा दायित्व और उतनी बड़ी कठिन परीक्षा। ब्रिटेन, अमेरिका, रूस जैसे उन्नत देशों की महिलाओं ने इस पदीय सम्मान को ईर्ष्या की दृष्टि से देखा और उन्हें लगा जैसे विश्व-भर की महिलाओं की प्रतिष्ठा ही एक परीक्षा में डाल दी गई हो। राज्याध्यक्षों के अलावा स्थान-स्थान से प्रमुख महिलाओं और महिला-संगठनों के बधाई-संदेश और साथ में इस परीक्षा में सफलता के लिए शुभकामनाएं इसका प्रमाण थीं।

यदि नारी की क्षमताओं पर विश्वास किया जाए तो वह कठिन से कठिन परीक्षाकाल को भी बड़ी कुशलता से पार कर, सफल हो सकती है। श्रीमती इंदिरा गांधी इसकी एक मिसाल हैं। इस परीक्षा में उनकी सफलता और विजय भारतीय नारी की सफलता और विजय होगी, इसका अहसास उन्हें प्रारम्भ से हैं। लेकिन श्रीमती गांधी को इस बात से चिढ़ है कि उनकी राजनीतिक सफलता को नारी के दृष्टिकोण से आंका जाए। वे स्वयं को 'नारी' बाद में और देश की समान स्वतन्त्र 'नागरिक' पहले मानती हैं। समानाधिकार के इस युग में नारी-

पुरुष का प्रश्न उठाया ही क्यों जाए ?

फिर भी इस प्रश्न को इसलिए उठाना आवश्यक लगा कि उनके चुनाव में स्वयं बहुमत का प्रतिनिधित्व करने वाले पुरुषवर्ग की ओर से प्रकट की गई प्रारंभिक प्रतिक्रिया में हर्षध्वनि के साथ एक ध्वनि और भी जूड़ी हुई थी। यह थी : आपसी चर्चाओं में, पत्रों के व्यंग-कालमों में, घरों में पति-पत्नी के निजी वार्तालापों में, 'औरतों का राज' वाली शंका और हास्य-व्यंग की मिली-जुली ध्वनि। परम्परा में ढले रूढ़िवादी शासक पुरुष के गले यदि प्रारम्भ में यह बात सहज ही नहीं उतर पाई थी तो इसे कुछ अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता। यहीं हम महिलाओं की एक दवी शंका भी सिर उठाती है कि देश की इस उथल-पुथल से भरी अनिश्चयात्मक स्थिति में राजनीतिक व कूटनीतिक स्वार्थों के साथ कहीं पुरुष के इस मनोविज्ञान का भी गठबंधन अवश्य है। पर श्रीमती गांधी का स्त्रियोचित नहीं, नागरिकोचित आत्मविश्वास न केवल उसे नकारता चला गया, धीरे-धीरे ऐसी सभी शंकाओं-बाधाओं को निर्मूल भी करता चला गया।

एक महिला के नाते प्रधानमंत्री बनने पर वे क्या अनुभव करती हैं ? इस प्रश्न को वे बड़ी झुंझलाहट के साथ सुनती हैं। "जहां तक काम का सवाल है, मैं स्वयं को नारी नहीं समझती।" एक प्रधानमंत्री में क्या गुण होने चाहिए ? इसके उत्तर में वे कहती हैं, "संजीदगी और काम के प्रति ईमानदारी व समर्पण की भावना। ये गुण पुरुष और नारी में कोई भेद नहीं करते।" पर इसका यह अर्थ नहीं कि उनमें स्त्रियोचित सहज गुणों का अभाव है। अपनी सुन्दरता, कमनीयता, सुरुचि, आवाज़ और मुस्कान में वे पूर्णरूपेण नारी हैं। एक बार जब उनसे पूछा गया कि चुनाव की स्वतन्त्रता होने पर वे क्या बनना चाहेंगी ? तो उनका उत्तर था, "मैं इतिहास और मानवशास्त्र में अनुसंधान करना चाहूंगी और निजी तौर पर साज-सज्जा का काम पसन्द करूंगी।" प्रथम पसंद में पिता श्रीनेहरू द्वारा प्रशिक्षित उनका व्यक्तित्व बोल रहा था, द्वितीय में उनका अपना नारीत्व।

श्रीमती गांधी शरीर से दुबली हैं, व्यक्तित्व से कमनीय। उन्हें देखकर किसी के लिए भी यह अनुमान लगाना कठिन हो जाता है कि अपने कार्यकारी जीवन में वे पुरुषों से भी अधिक कर्मठ और समर्थ हो सकती हैं। पर यह सत्य उनके लोकप्रिय व्यक्तित्व का एक सहज अंग है। अपने दुबले-पतले, कमजोर शरीर के बावजूद प्रतिदिन १६ से १८ घंटे कार्य, सदा तत्परता और राजीतिक जीवन के तमाम दबावों-तनावों को मुस्काराते हुए झेलते जाना उनके लिए कुछ मुश्किल नहीं। उनकी निकट सहयोगिनी श्रीमती मुकुल बैनर्जी के अनुसार, "अपनी सुरुचिपूर्ण पसंद के बावजूद काम के वक्त इंदिरा जी पांच मिनट में तैयार होकर

बाहर निकल आती हैं।" प्रधानमन्त्री-पद के पूर्व ही व्यस्त पिता की देखभाल, प्रधानमन्त्री-निवास पर हर समय अतिथियों के स्वागत तथा अनेक संस्थाओं में सक्रियता के साथ मां और पत्नी के दायित्वों के निभाव में कर्मठता की ट्रेनिंग उन्हें पर्याप्त मिल चुकी थी। चुपचाप काम करना और निरन्तर काम करना उनका स्वभाव बन चुका है। व्यक्तिगत प्रचार से वे बड़ी परेशान हो उठती हैं। यहीं कारण है कि अनेक भव्य कामों को, जो उन्होंने चुपचाप किए हैं, लोग नहीं जानते।"

उनके राजनीतिक जीवन की सफलता के बारे में 'दिनमान' का यह मत प्रस्तुत करना पर्याप्त होगा कि "कांग्रेस बनाम गैर कांग्रेसवाद का प्रश्न हो, केन्द्र-राज्य सम्बन्धों का प्रश्न हो, पार्टी बनाम सरकार का हो, विदेश नीति का हो या प्रशासनिक दृढ़ता का, श्रीमती गांधी के पास राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के लगभग सभी प्रश्नों के सुनिर्धारित और संतुलित उत्तर होते हैं।" कठिन से कठिन परिस्थितियों में उनका अविचलित भाव, बड़े से बड़े विरोध का कूटनीतिक मुकावला, किसी भी विवादास्पद प्रश्न पर स्वतन्त्र-आत्मविश्वासपूर्ण निर्णय की क्षमता और हर स्थिति-प्रवृत्ति से समयानुसार अनुकूल या तटस्थ भाव से पार होने की उनकी सामर्थ्य देखकर बड़े-बड़े दिग्गज राजनीतिज्ञ भी उनका लोहा मान गए हैं।

जुलाई-अगस्त, १९६९ में तेज़ी से घटित घटनाओं और उनके परिणामों ने तो उनकी लोकप्रियता में इतनी वृद्धि की कि वे आधुनिक इतिहास की एक चिरस्मरणीय नारी बन गईं।

प्रधानमन्त्री बनने के बाद श्रीमती गांधी शासनतन्त्र में परिवर्तन के साथ देश-हित में कुछ ठोस कदम उठाना चाहती थीं। विशेष रूप से कांग्रेस द्वारा स्वीकृत समाजवादी ढंग की समाजरचना कार्यक्रम के क्रिआन्वयन को लेकर वे निरन्तर सचेष्ट रहीं। किन्तु दक्षिण-पंथी, अधिकांश में कथित सिंडीकेट, के प्रभावी तत्त्व उनके मार्ग में शिलाखण्ड के समान अवरोधक बनकर खड़े हो जाते रहे। इस दिशा में आगे बढ़ने की असफलता से वे वैसे ही खिन्न थीं, उसपर बंगलौर के कांग्रेस-अधिवेशन में विरोधीतत्त्वों द्वारा जिस तरह उनकी सरकार पलटने की योजना का श्रीगणेश किया गया, उसने इस खिन्नता को और बढ़ावा दिया। पर श्रीमती गांधी उस मिट्टी की नहीं बनी हैं कि निराश होकर या हारकर बैठ जाएं। शीघ्र ही निराशा के इस भंवर से निकलकर उन्होंने विरोधी दक्षिणपंथी तत्त्वों से निबटने के लिए कमर कस ली। प्रत्याक्रमण का पहला राजनीतिक मोहरा बने सिंडीकेट-प्रभावित उपप्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई। उन्हें अप-

दस्थ कर, उनके हाथ से वित्त मंत्रालय वापस लेकर, दूसरे क़दम में, उन्होंने

२० जुलाई, १९६९ को प्रमुख बैंकों के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी। अकस्मात घटी इन दोनों घटनाओं और उनकी सफलता ने उनके सशक्त प्रशासकीय तथा लोकहितकारी रूप को एकदम जनता के सामने ला दिया। निम्न व मध्यवर्ग की दबी-पिसी कोटि-कोटि जनता ने उनका साधुनाद किया तथा वे उनकी प्रिय-पात्र बन गईं। उनकी इस सफलता से क्षुब्ध हो सिंडीकेट ने कई तरह से उन्हें नीचा दिखाना चाहा पर अगले मोर्चे,—२० अगस्त, को राष्ट्रपति-पद के चुनाव में पार्टी के नामजद श्री नीलम संजीव रेड्डी की हार और श्रीमती गांधी समर्थित श्री वी० वी० गिरि की जीत ने जनमत का फैसला पूरी तरह उनके पक्ष में कर दिया। राष्ट्रपति के चुनाव के बाद भी कांग्रेस अध्यक्ष श्री निजलिंगप्पा तथा सिंडीकेट के प्रभावी तत्त्वों द्वारा अनुशासनात्मक कार्यवाही कर उनकी सरकार को पलटने की योजना बनाई गई किन्तु तब तक जनमत उन लोगों के हाथ से निकल चुका था। २५ अगस्त को कांग्रेस कार्यकारिणी ने कांग्रेस अध्यक्ष तथा प्रधानमंत्री को राष्ट्रपति चुनाव के अन्तर्विरोधी प्रकरणों से बरी करते हुए जो प्रस्ताव स्वीकार किया, उससे सिंडीकेट लगभग टूट गया और श्रीमती गांधी अपनी समर-नीति में पूरी तरह विजयी होकर विजेता सैनिक की भांति जन-जन की जय-जय ग्रहण करने लगीं। कार्यकारिणी समिति की बैठक के ठीक एक दिन पहले उन्होंने कहा, "मैं पार्टी की एकता की कायल हूं, पर नीतियों और कार्यक्रमों की कीमत पर नहीं।" दरअसल वे संस्था को सत्ता-आधारित नहीं, नीति और कार्यक्रम-आधारित रखना चाहती थीं। उनका उद्देश्य नीतियों और कार्यक्रमों को इस तरह संगठित कर देना था कि अवांछित तत्त्व पार्टी से निकल जाएं और कांग्रेस पार्टी को फिर से एक अर्थ मिल जाए। २ सितंबर, १९७० को भूतपूर्व नरेशों को दिए जाने वाले प्रिवीपर्सों और अन्य सुविधाओं की समाप्ति-सम्बन्धी कदम उठाकर उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा में एक चमकीला सितारा जोड़ लिया।

१९७१ का मध्यावधि चुनाव। अपनी प्रगतिशील नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए श्रीमती गांधी जनता का स्पष्ट आदेश प्राप्त करना चाहती थीं। संविधान के बुनियादी अधिकार-संबंधी परिच्छेद-३ में संशोधन करने के लिए दो तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है। जनता के पूरे समर्थन बिना ऐसा स्पष्ट बहुमत प्राप्त करना कठिन होता है। सन् १९६७ के पिछले चुनाव परिणाम और उसके बाद समाजवाद की दिशा में उठाए गए उनके कदमों की क़ानूनी व्याख्याओं के बाद मध्यावधि चुनाव का निर्णय उनके लिए खतरे से खाली नहीं था, उनकी लोकप्रियता व राजनैतिक अस्तित्व के लिए एक चुनौती थी। पर नेता और

संगठन में साठ हज़ार सदस्य हो गए थे। इस वानरसेना का काम स्वतन्त्रता सेनानियों के काम में सहायता पहुंचाना था, जिससे गुप्त खबरों के प्रसारण जैसा दुष्कर कार्य भी लिया जाता था। और बालिका इन्दिरा ने इस कार्य को बखूबी निभाया। इलाहाबाद स्थित उनका घर 'आनंद भवन' उन दिनों देश की राजनीतिक गतिविधियों का मुख्य केन्द्र था इसलिए राजनीति की शिक्षा इन्दिरा जी को बचपन से ही मिलने लगी थी और वे उसमें रुचि भी लेने लगी थीं।

श्री नेहरू और श्री टैगोर के प्रभाव से अध्ययन, कला, साहित्य, समाज-सेवा आदि की ओर भी उनका झुकाव प्रारम्भ से ही है। घर के वातावरण और राजनीतिक, सामाजिक गतिविधियों में भाग लेने के कारण इंदिरा जी की शिक्षा में निरन्तर बाधा पहुंचती रही। मां का साया शीघ्र उठ जाने और पिता के बहुधा जेल में रहने के कारण इंदिरा ने अल्प आयु में ही संघर्षों से लड़ना, स्वयं निर्णय कर लेना और अपने पैरों पर खड़ा होना सीख लिया था। आक्सफोर्ड में पढ़ते समय वहां ब्रिटिश मज़दूर दल में शामिल होकर उन्होंने राजनीति का दूसरा पाठ पढ़ा।

१९३८ में २१ वर्ष की आयु में इंदिरा जी कांग्रेस की सदस्या बनीं। १९४२ में 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में भाग लेने पर उन्हें १३ महीनों के लिए जेल जाना पड़ा। तब उनका विवाह श्री फीरोज़ गांधी—राष्ट्रीय कांग्रेस के तपे हुए कार्यकर्ता (बाद में संसद् सदस्य) के साथ हुआ ही था कि फौरन पति-पत्नी दोनों को कैद कर लिया गया। १९४७ में उन्होंने महात्मा गांधी के निर्देशन में साम्प्रदायिक दंगों की शांति और हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए कार्य किया। तब से आज तक वे इस उद्देश्य के लिए प्रयत्नशील रही हैं। चीन व पाकिस्तान के हमले से उत्पन्न देश की संकटमय स्थिति में उन्होंने इस एकता के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को लगा दिया था। १९५९ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में सत्तारूढ़ दल कांग्रेस की अध्यक्षा निर्वाचित होकर उन्होंने जनता को अपने स्थान व योग्यता का परिचय दिया। उनकी अध्यक्षता-काल में कांग्रेस ने अनेक सफलताएं प्राप्त कीं। १९६४ में अपने पिता के निधन के बाद श्री शास्त्री के मंत्रिमण्डल में वे सूचना और प्रसारण मंत्री बनकर पहली बार केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में शामिल हुईं और १९६६ के प्रारंभ में ही प्रधान-मंत्रित्व के पद पर पहुंच गईं।

पिछले अनेक वर्षों तक वे अनेक बाल-कल्याण, महिला-कल्याण और सांस्कृतिक संगठनों की ट्रस्टी, चेयरमैन या सक्रिय सदस्या रही हैं। भारतीय बाल-कल्याण परिषद् की अध्यक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय बाल-कल्याण परिषद् की उपाध्यक्ष के नाते

भारत में बाल-कल्याण-सेवाओं के प्रसार में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यूनेस्को की कार्यकारिणी सदस्या, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के महिला-विभाग की अध्यक्षा तथा इलाहाबाद की तीन प्रमुख संस्थाओं—स्वराज्य भवन ट्रस्ट, कमला नेहरू अस्पताल व बाल-राष्ट्रीय संस्थान की निरीक्षिका के नाते भी उनकी सेवाएं उल्लेखनीय हैं। पर विशेष उल्लेखनीय है केन्द्रीय नागरिक परिषद की चेयरमैन के नाते, संकटकालीन स्थिति में राष्ट्रव्यापी सेवाओं का संगठन और जवानों-विस्थापितों के लिए सप्लाई व राहत-कार्य। पाकिस्तानी आक्रमण के समय उनकी यह अद्भुत संगठन-क्षमता देखकर तथा साम्प्रदायिक एकता और मूल्यस्थिरता के लिए जनता और व्यापारियों के नाम उनकी मार्मिक अपीलें सुन-कर भारतीय-जनमानस ने तभी उन्हें अपने भावी नेता के रूप में अपना लिया था।

प्रधानमन्त्री पद ग्रहण करते ही राष्ट्र के नाम रेडियो-संदेश में उन्होंने कहा था, "हम शान्ति चाहते हैं क्योंकि हमें दूसरी लड़ाई लड़नी है। यह लड़ाई है गरीबी से, बीमारी से, अज्ञान से।...मैं प्रण करती हूं कि हमारे राष्ट्रनिर्माताओं ने धर्म-निरपेक्षता और लोकतन्त्र और समाजवाद और विश्व-शान्ति के जिन आदर्शों पर इस राष्ट्र की बुनियाद रखी है उनका मैं पूरी तरह पालन करूंगी।...आइए हम सब किसान और कामगर, अध्यापक और विद्यार्थी, वैज्ञानिक और शिल्पी, औद्योगिक और व्यापारी, राजनीतिक कार्यकर्ता और सरकारी कर्मचारी सब मिलकर प्राणपन से काम करें और देश को आगे बढ़ाएं।" और अनेकानेक समस्याओं से घिरे इतने बड़े देश में वे इन सब वर्गों को अपने साथ लेकर चल रही है, यह कोई कम महत्त्व की बात नहीं। इधर कुछ समय से कुछ अन्तर्राष्ट्रीय दवावों से व कुछ भीतरी कारणों से देश में मंहगाई, भ्रष्टाचार, तस्करी व अनुशासन-हीनता अनियंत्रित रूप से बढ़ रही थी, जिससे आम वातावरण इतना तनावपूर्ण हो उठा था कि उसमें श्रीमती गांधी की लोकप्रियता की तस्वीर भी कुछ धुंधली पड़ने लगी थी। तभी १२ जून, १९७५ को इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने उनके चुनाव को अवैध घोषित करते हुए जो निर्णय दिया, उससे एकबारगी लगा, जैसे पूरे देश में एक तूफान आ गया हो। पर श्रीमती गांधी इससे भी विचलित नहीं हुईं। अपने पक्ष में जुटता व्यापक जन-समर्थन देख उन्होंने २६ जून को देश में आपतकालीन स्थिति की घोषणा कर दी और अधिक शक्ति हाथ में लेकर देश में व्याप्त बुराइयों पर चारों ओर से आक्रमण आरंभ कर दिया। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष में एक बार फिर वे शक्ति की प्रतीक दुर्गा-समान नेत्री के रूप में प्रकट हुईं और विश्व-भर में चर्चित हो गईं। स्वाभाविक है कि ऐसे

समय समर्थन के ऊंचे स्वर के बीच विरोध का दबा स्वर भी एक मात्रा में घुल-मिल जाए पर चुनौतियों का सामना करने वाली यह शक्तिशाली नारी अपने जीवन की सबसे बड़ी इस चुनौती का सामना भी उसी दृढ़ता से कर रही हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि इस कठिन परीक्षा में से भी वे सफलतापूर्वक पार हो जाएं और विश्व-आकाश में नक्षत्र बनकर चमकने लगें। फलितार्थों की प्रतीक्षा है।

७ अप्रैल, १९६७ की एक पुरानी घटना है। अमेरिका के युनाइटिड प्रेस इंटरनेशनल के एक सर्वे-निष्कर्ष में भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इंदिरा गांधी को 'विश्व की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण महिला' घोषित किया गया था। महत्त्वपूर्ण की दृष्टि से दूसरा नम्बर महारानी एलिज़ाबेथ व श्रीमती जेकलिन कैनेडी दोनों को दिया गया था। चुनाव के आधारभूत कारणों में प्रमुख था—'नारीत्व की कमियों पर विजय प्राप्त करना।'

OOO

मुद्रक : शिक्षा भारती प्रेस, शाहदरा, दिल्ली